शोध दर्पण

2022

वैश्वीकरण और हिंदी कविता पर केंद्रित

हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

शोध दर्पण

वैश्वीकरण और हिंदी कविता पर केंद्रित

A PEER REVIEWED JOURNAL

Department of Hindi, University of Kerala

परामर्श मंडल

डॉ.एस.तंकमणी अम्मा

भूतपूर्व आचार्य, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

प्रो.नामदेव

प्रोफसर, हिंदी विभाग, किरोड़िमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ.पल्लव

असोसियेट प्रोफसर, हिंदी विभाग, हिंदु कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

प्रो.ए.एम.उण्णिकृष्णन

डीन और सीनियर प्रोफसर, केरल विश्वविद्यालय

डॉ.पी.पी.अजय कुमार

सीनियर प्रोफसर, अंग्रेज़ी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

डॉ.एस.नसीब

सदस्य, सिंडिकेट, केरल विश्वविद्यालय

संपादक

प्रो.एस.आर.जयश्री

अध्यक्ष, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

सह संपादक

डॉ.हेरमन पी.जे.

सह आचार्य, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

संपादक मंडल

डॉ.सी.एस.सुचित

डॉ.इंदू के.वी.

डॉ.दीपक के.आर.

डॉ.राजन टी.के.

डॉ.लीना बी.एल.

ISSN: 2347-8152

© Editor

Shodh Darpan 2022

Editor
Prof.S.R.Jayasree
Professor and Head,
Department of Hindi,
University of Kerala
Kariavattom, Thiruvananthapuram

Cover design and layout
Dr.Ratheesh Nirala

Printed and published by
Kerala University Press, Palayam
Thiruvananthapuram

शोध दर्पण

A PEER REVIEWED JOURNAL

Department of Hindi, University of Kerala, Thiruvananthapuram

वर्ष 12 | अंक 12 | 2022

इस अंक में

संपादकीय		3
हिंदी कविता के पचास वर्ष	: डॉ.विजयबहादुरसिंह	4
समकालीन हिंदी कविता: भूलने के विरुद्ध एक हिदायत	: प्रो.अरुण कमल	17
'मेरा सब कुछ अप्रिय है तेरी नज़र में' में सांस्कृतिक प्रतिरोध	: प्रो.एस.आर.जयश्री	23
अनामिका की स्त्री दृष्टि : एक नूतन पाठ	: प्रोफ.आर.जयचंद्रन	32
वैश्वीकरण और नारीवादी कविता (कात्यायनी के 'सात भाईयों के बीच चम्पा' के विशेष संदर्भ में)	: डॉ.दीपक के.आर.	40
भूमंडलीकरण के ज़माने में बाज़ार से घबराए हुए शब्द	: डॉ.इंदू के.वी.	50
भूमंडलीकरण दौर की दार्शनिक काव्य यात्रा	: डॉ. हेरमन पी. जे.	56
भूमंडलीकरण और हिंदी कविता	: डॉ.राजन टी.के.	63
'लैब्रडोर' (चंद्रकांत देवताले) : पूँजीवादी परिवेश की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति	: डॉ लीना बी एल	69
भूमंडलीकरण के दौर की हिंदी कविता	: डॉ.प्रणीता	79
दलित समाज की गूंज और अनुगूंज: 'न समझे जाने का दर्द' के संदर्भ में	: डॉ. श्रीनिता पी आर	90

उदय प्रकाश की कविताओं में उपभोग संस्कृति और नारी जीवन	: डॉ. रंजू जी नायर	99
सूरीनाम की कविताओं में भाषाई अस्मिता	: ब्लेस्सनराजू	103
कुमार अंबुज की कविताओं में भूमंडलीकरण का परिदृश्य 'उपशीर्षक' कविता संग्रह के संदर्भ में	: अरुंधती मोहन	110
वैश्वीकरण के दौर में निर्मला पुतुल की कविता	: डॉ. संध्या मेनन	115
राजेश जोशी की कविताओं में मानवतावाद	: डॉ.अजित्रा आर. एस.	121
'बाज़ार' कविता में चित्रित बाज़ारू संस्कृति	: डॉ.षर्लिन	129
भूमंडलीकरण और डॉ.ए.अरविंदाक्षन की कविता ('जंगल नज़दीक आ रहा है' के विशेष संदर्भ में)	: डॉ.प्रिया ए.	132
हिंदी दलित कविता: दशा और दिशा	: हिमा एम एन	139
भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के जुगलबंदी कवि: मंगलेश डबराल	: रेवती एस.	145
आदिवासी कविता में प्रतिरोध की संस्कृति	: कृष्ण प्रीति ए आर	149
वैश्वीकरण के संदर्भ में मैथिली शरण गुप्त की कविता 'मनुष्यता':एक पुनर्पाठ	: अंजिता जे.एम.	157
जयप्रकाश कर्दम और एस जोसफ की कविताओं में दलित चेतना	: राधिका आर.	163
'स्त्रियां' में स्त्री स्वर	: डॉ.आर्या वी.एस	168
विनोद शुक्ल की कविताओं में वैश्वीकरण	: आर्षा राज आर.एल.	172
केदारनाथ सिंह की कविताओं में नारी संवेदना	: श्रीवर्षा मोहन	178
बाज़ारू संस्कृति और समकालीन हिंदी कविता	: जोस्ना जोस	183

संपादकीय

वैश्वीकरण की नीति ने भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित किया है। यह भारत के अर्थ तंत्र और बाज़ार व्यवस्था के निर्माण में सूत्रधार भी बन गयी है। पूंजी पर केंद्रित इसकी गतिविधियों को साहित्य ने अपनी विषय वस्तु बनाई है और इनकी विसंगतियों और विडंबनाओं को उद्घाटित करके प्रतिरोध का पथ-प्रदर्शन भी किया है।

हिंदी कविता की एक समृद्ध विरासत है। इससे प्रेरणा पाकर समकालीन हिंदी कविता नयी संरचना, नयी भाषा और नये शिल्प से समय की मांग के अनुरूप अंतर्वस्तु का गठन करके, उस समृद्ध विरासत का शानदार विस्तार करती है। यह समय और समाज की अंतरूनी सच को प्रतिफलित करते हुए वर्तमान युग के सांस्कृतिक संकट को बेबाकी से अनावृत कर रही है। अपने अस्तित्व और अस्मिता के लिए संघर्षरत हाशिएकृत लोगों के प्रतिरोध का स्वर इसमें मुखरित है। उदारीकरण, निजीकरण और बाज़ार के जाल में फंसे किसान, मजदूर जैसी आम जनता के जीवन यथार्थ की गूंज-अनुगूंज इसमें है। आज की कविता शहरीकरण की प्रक्रिया से अपने जंगल, जल और भाषा से विस्थापित जन समुदाय की प्रतिक्रिया है। बाज़ारवाद से विस्थापित हो रही मानवीयता का समन्वय है, संघर्ष का सौदर्य भी है। प्रकृति के अंदरूनी सौदर्य और पर्यावरणीय संकट के प्रतिरोध का काव्यात्मक रूप है। आज के समय के दृश्यों को समेटती कविता में बौद्धिक जागरूकता और सांस्कृतिक चेतना का स्वर मुखर रूप से मौजूद है। अपने समय का गवाह ही नहीं, बल्कि बेहतर मनुष्य बनने की संभावनाओं का संकेतक भी है। इसमें भारतीय जन जीवन की ज़िंदगी के बुनियादी अनुभव की अर्थ ध्वनियाँ मिलती हैं। इन चिंतनपरक कविताओं के निहितार्थ जीवन मूल्य एवं सौंदर्य का अध्ययन और मूल्यांकन समय की मांग है ।

वैश्वीकरण के दौर की हिंदी कविता पर केंद्रित शोध दर्पण का यह अंक इस मांग को अभिसंबोधन करने के उद्यम का एक कदम मात्र है। कवि अरुण कमल और आलोचक विजय बहादुर सिंह का सहयोग प्राप्त हुआ है, जिन्होंने आलेख भेज देकर हिंदी विभाग के इस प्रयास को संपन्न किया है। हम सदैव कृतज्ञ रहेंगे। केरल विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त अनुदान से इसका प्रकाशन हो रहा है। उसके लिए विश्वविद्यालय के प्रति हम आभारी हैं।

प्रो.एस.आर.जयश्री
संपादक

हिन्दी कविता के पचास वर्ष

विजय बहादुर सिंह

साहित्य को जब हम विचारधाराओं और कविता के दशकों में बाँटकर देखने लगते हैं, तब जो बड़ी दुर्घटना होती है वह यह कि परम्परा या सनातनता के तत्वों को क्षति पहुँचती है और कवि का ठीक से मूल्यांकन नहीं हो पाता। यह तो माना कि प्रत्येक कवि, जो सचमुच कवि है, वह मौलिक ही होता है, किन्तु साहित्य के मानदंड तो प्रायः आधारभूत तौर पर परंपरा से चलकर आते हैं। नया से नया कवि भी एकदम नया कहाँ होता है। काव्य-भाषा तो उसकी लोक से ही चलकर आती है। उसकी कविता में फैले संवेदन वहीं से उधार की तरह चलकर आते हैं। हाँ, वह इन संवेदनों की अभिव्यक्ति करता हुआ अपने स्वभाव की एक छाप जरूर लगा देता है। इसे ही उसकी मौलिकता कहा जाता है। इसका यह भी अर्थ नहीं कि कवि की मौलिकता का अर्थ अभिव्यक्ति-कला की विशिष्टता है। बगैर संवेदनों के आखिर अभिव्यक्ति का अर्थ क्या। इसका मतलब है मौलिकता का संबंध कवि की अभिनव संवेदनशीलता है, जिसके साथ उसका स्वाधीन जीवन-बोध लगा रहता है। इन्हीं दोनों से कवि की मौलिकता पहचानी जाती है। निश्चय ही इसमें अपूर्व ताज़गी, अग्रगामी अनुभवात्मकता और प्रखर या कोमल अभिव्यक्ति प्रकट होता है। इसलिए सिद्धांततः मैं यह नहीं मान पाता कि किसी कवि या कविता को स्थूल ऐतिहासिक काल-खंड के आधार पर जाँच-तौल कर उसे दस या पाँच में से किसी एक दशक का कवि कह दिया जाय।

आज अगर मैं यह कहने चलूँ कि अज्ञेय या मुक्तिबोध या फिर नागार्जुन फलाँ से फलाँ दशक तक के

कवि हैं, तो इन कवियों को कैसा लगेगा? या फिर धूमिल को सातवें-आठवें और रघुवीर सहाय को आठवें और नौवें दशक का कवि कहूँ, तो क्या हिंदी का साहित्य समाज मेरी इस हिमाकत का समर्थन करेगा? संभवत: नहीं। तब उचित होगा कि मैं इन कवियों को इनके विशिष्ट योगदान के लिए याद करूँ। मसलन धूमिल को नयी भाव-दृष्टि और उनकी मरदानी गँवई काव्य-भाषा के लिए या फिर रघुवीर सहाय को उनकी नई सोच और विडंबना से भरी अखबारी काव्य-भाषा के लिए। बाकी छंद और लय का, अतुकांत और तुकांत लय विधान तो पहले से चला आ रहा है। इसलिए असल बात है वह गतिशील जीवन यथार्थ, जो प्रत्येक नये कहे जाने वाले लेखक या कवि के लिए चुनौती बना हुआ है। या फिर अनछुआ जीवन-बोध, जिसे कवि ने अपनी कविता की ज़रूरत की तरह न केवल महसूस किया है वरन् उसे रचा भी है।

हिंदी कविता में, खास तौर पर बीसवीं सदी की हिंदी कविता में ही नहीं, समूचे साहित्य में जो सौ-दौ सौ बरसों बाद ऐतिहासिक तौर पर महसूस की जाएगी कि उसने रीतिकालीन चित्तवृत्ति और सैंदर्य- दृष्टि से स्वयं को निर्ममतापूर्वक अलग कर लिया और स्वतंत्र सौंदर्य दृष्टि और चित्तवृत्ति विकसित कर ली जिसके परिणामस्वरूप कविता और लोक का एक नया भाव संबंध ही विकसित होने लगा। इस क्रम में मैथिलीशरण गुप्त आदि की आंदोलनी राष्ट्रीयता तो प्रसाद, निराला पंत आदि की सांस्कृतिक और क्रांतिकारी राष्ट्रीयता सामने आती है। इन कवियों का काव्य व्यक्तित्व बहुत विराट है। परंपरा यहाँ नए सिरे से एक क्रांतिकारी तेजस्विता प्राप्त करती है। इनकी कविता से होकर गुज़रते हुए हमें ऐसा लगता है, जैसे एक अति प्राचीन और महान जाति धडक रही और साँस ले रही है। अतीत की तरफ तो ये सब जाते हैं, किंतु प्रसाद और निराला के यहाँ जो अतीत है उस पर नवजागरण का तेजस्वी आलोक छाया हुआ है। यहाँ तक एक खास तरह की अखंड चेतनात्मकता काम करती रहती है। छायावाद का सौंदर्य ही यही है कि वहाँ वस्तु और रूप का अद्‌भुत और विरल कहें या असाधारण संयोग घटित हो सका है।

इस तुलना में सन् छत्तीस में जो प्रगतिवाद के नाम से नया काव्यांदोलन या फिर सन् तैंतालीस में तार सप्तक के द्वारा प्रयोगवादी काव्यांदोलन आता है, वह निर्णायक चरित्र लेकर आता है, जिसे कविता की अविच्छिन्न परंपरा से

उतना मोह नहीं है जितना अपनी राजनीतिक दृष्टि, विचारधारा, अपनी मध्यवर्गीय शहरी भाव-दृष्टि जिसे प्रगतिशीलता या फिर प्रयोगशीलता कहा जाता है। शुरुआती प्रगतिवादी कविता में तो जोश और उफान के अलावा शायद ही कुछ हो। फिर कवि ने बाकायदा अपने आपको एक खास प्रकार की सत्ता राजनीति और उसकी विचारधारा से बाँध लिया परिणामत: वह अपनी स्वाधीन अनुभव दृष्टि ही भुला बैठा । प्रगतिवाद ने तो ऐसा दावा करना शुरू किया जैसे उसके पहले जीवन यथार्थ था ही नहीं। प्रयोगवादियों ने स्वयं को नया और आधुनिक कहना शुरू किया, जबकि कविता की परंपरा के लिहाज से देखें तो यह एक प्रकार का सांस्कृतिक विचलन था, जो भारत या राष्ट्र की जातीय भाव भूमि का परित्याग कर ऐसी परदेशी सांस्कृतिक दृष्टि रोप रहे थे, जिसमें केवल शहरी मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे बाबुओं का नया विकसित होता मानस प्रतिबिंबित हो सके। कविता अगर समूची जातीय चेतना और संस्कृति की सार सुगंध है, तो फिर वह सार सुगंध नएपन और आधुनिकता के हंगामे में विलुप्त सी हो उठी। प्रयोगवाद ने अभिव्यक्ति की कुछेक नयी शैलियाँ शायद ईजाद की, जिनमें से एक मुक्तिबोध की लंबी कविताओं का शिल्प है, जो अपूर्व और अनूठा था और है। यों कालिदास का मेघदूतम भी सिवाय एक लंबी कविता के और क्या है, पर उसकी भाव-भूमि और भाव- दृष्टि में भाव प्रखरता के तत्व अधिक हैं, जबकि मुक्तिबोध में विचार-प्रखरता के ।

शमशेर बहादुर सिंह, धर्मवीर भारती, भवानी प्रसाद मिश्र सप्तक परंपरा के मेजर कवि हैं, जबकि रघुवीर सहाय अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का विकास बीसवीं सदी के सातवें दशक में कर पाते हैं। इस तुलना में भवानी प्रसाद मिश्र की अत्यंत महत्वपूर्ण रचनाएँ 'सन्नाटा', 'सतपुड़ा के जंगल' और भारती की 'अंधायुग' जैसी असाधारण और अविस्मरणीय अद्भुत रचना छठवें दशक में हमें प्राप्त होती है।

यहाँ रुककर मैं यह कहना चाहता हूँ बीसवीं सदी का चौथा दशक यानी सन छत्तीस और उसके अगल-बगल के वर्ष ऐतिहासिक हैं। यही समय है जब हिंदी समाज को 'कफ़न', 'गोदान', 'राम की शक्ति पूजा' और 'कामायनी' जैसी महान या फिर 'सतपुड़ा के जंगल' जैसी कालजयी रचना हमें मिलती है। यानी कि पैंतीस छत्तीस से उनतालीस चालीस तक। इसलिए मेरी यह समझ बनती है कि

यही कालखंड एक युग का समापन तो दूसरे युग का प्रस्थान बनता है। साथियों की भी निगाह में और अंततः लोक और अकादमिक विद्वानों की भी।

सन् सैंतालीस में आज़ादी के साथ जो कुछ त्रासद घटित हुआ वह एक उपमहाद्वीप का राजनीतिक तौर पर दुर्भाग्यपूर्ण बँटवारा, सांप्रदायिक उन्माद और हिंसा, बड़े पैमाने पर आबादी का शरणार्थी के रूप में बदल जाना और दोनों तरफ के ऐसे लोगों में बेगानेपन की अनुभूति पर हिंदी साहित्य में कहानी और उपन्यास में इसकी कतिपय अभिव्यक्तियाँ तो हुईं, पर कविता ने इस बड़े और दर्दनाक हादसे को पता नहीं क्यों कोई बड़ा जीवन यथार्थ नहीं माना और तो और मिल सकी आज़ादी को लेकर भी हिंदी कविता बहुत हौसले में नहीं दिखती, बल्कि जल्दी ही उसमें मोहभंग की स्थिति घर कर लेती है । आज़ादी तक या कहें छठवें दशक तक तो मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत, महादेवी, अन्यों में दिनकर, बच्चन आदि सक्रिय हैं। मुझे निराला की यह पंक्ति बार-बार याद आ रही है- काले-काले बादल छाए न आए वीर जवाहरलाल। ऐसी ही स्थितियों में विजय देव नारायण साही का वह महानिबंध लघु मानव के बहाने नयी कविता पर एक बहस सोचा और लिखा गया। यह भी याद रखने की सावधान ज़रूरत है कि सप्तक के बाहर के तीन महत्वपूर्ण कवि केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और त्रिलोचन लगातार अपना काम करते चल रहे हैं, पर सबसे अतिक्रामक और विवादास्पद उपस्थिति तो नागार्जुन की ही मानी गई। नागार्जुन जीवन-भर लोगों की निगाह में रहे, पार्टी के भी, वैचारिक सातवें और आठवें दशक में नवगीत और साहित्य का परिदृश्य जो सबसे पहले से चला आ रहा था उसमें नेतृत्वकारी भूमिका अज्ञेय की थी, पर सन् चौंसठ में मुक्तिबोध के कविता-संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' से मुक्तिबोध भी एक प्रतिस्पर्धी काव्यनायक बनकर उभरते हैं। कुछ दिनों तक अज्ञेय की चमक फीकी-सी पड़ जाती है, पर तभी वे 'आँगन के पार द्वार' में 'असाध्य वीणा' जैसी कविता लेकर आते हैं। बल्कि अधिक सही यह कि सन् बासठ तिरसठ में ही सातवाँ दशक हमें इस रचना के साथ-साथ 'अंधेरे में' जैसी रचना से मिलवाता है । ये अविस्मरणीय और महान सर्जनात्मक कृतियाँ हैं। यह दशक प्रकारांतर से आधुनिकतावादी बनाम जनवादी मोर्चाबंदी का दशक भी कहा जा सकता है। इसी में धूमिल उभरते हैं, राजकमल चौधरी उभरते हैं, नवगीत के कवियों के साथ ढेर सारे काव्यांदोलन और काव्य

प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं। पर अधिकांश मौसमी झाग बनकर रह जाती हैं, यहाँ तक कि अकविता भी । नवगीत वालों में नए किस्म का रोमान और कोमल ध्वनि-संगीत तो अकविता में भावों की लोकविरोधी छवियाँ भाषा की विलक्षण तोड़फाड़ थी। नवगीत वालों ने याद दिलाया कि घर-परिवार, छंद की संगीतात्मकता और लोकगंध का अब भी कोई जोड़ नहीं है, तो अकविता ने विद्रूप यथार्थ का जाल सा तान दिया।

अकविता वाले रचना-संप्रदाय में प्रथमतः तो गिने-चुने कवि ही आए। अकविता में जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन, स्याम परमार तो नवगीत में उमाकान्त मालवीय, रवीन्द्र भ्रमर, ओम प्रभाकर, शलभ श्रीरामसिंह और नरेश सक्सेना पर आगे देवेंद्रकुमार बंगाली, माहेश्वर तिवारी आदि और भी नाम जुड़ते गए। इसमें शलभ श्रीरामसिंह जल्दी ही अतिक्रमण सा करते हुए उस कविता के प्रवर्तक बन बैठे, जिसे युयुत्सावादी कविता कहा गया, किन्तु धीरे-धीरे वे हिंदी और उर्दू ग़ज़ल और नज़्म के कवि /शायर के रूप में पहचाने जाने लगे। नक्सलवाद से लेकर मध्यम मार्गी काँग्रेस तक उनका संतरण चकित भी कुछ कम नहीं करता था। पर यह भी सही है कि विस्फोटक प्रतिभा के वे अन्यतम स्वामी थे। इसी बीच चन्द्रकांत देवताले, लीलाधर जगूड़ी जैसे प्रतिभाशाली कवि आए, जो अकविता की चौहद्दियाँ पार कर उस संतुलित रचना-पथ पर आ गए, जो कविता और जीवन के यथार्थ के बीच से अपने समय की राजनीति से आँखें चार करता हुआ चल रहा था। जगूड़ी की 'पेड़' जैसी कविता तो आज भी पाठकों को आंदोलित करती है। यही वक्त श्रीकांत वर्मा का भी है, जो बाद में 'मगध' जैसा महत्वपूर्ण कविता-संग्रह देकर चमत्कृत करते रहे। इस बीच हिंदी कहानी साहित्य के केंद्र में आ चुकी थी और कविता हाशिए की चीज़ हो चली थी, पर अशोक वाजपेयी ने कविता की वापसी की थी। नारा देकर उसे केंद्र में लाने की कोशिश करने लगे। वे स्वयं तो कवि थे ही। उनकी इस कोशिश ने कहानीकारों को चेताया कि कविता हाशिए की चीज़ नहीं है। उसकी विरासत बहुत पुरानी है। कहानी की अगर अपनी सत्ता है तो कविता भी सत्ताहीन नहीं है। शिक्षित मध्यवर्ग के समूह चित्त में अभी भी जगहें हैं। भोपाल में उन्होंने क्रमशः कविता की कतिपय महत्वपूर्ण 'सुबहें' आयोजित कीं, जिनमें नागार्जुन, शमशेर, लोचन,

रघुवीर सहाय तो शामिल हुए ही, विष्णु खरे मलयज, विष्णु नागर, मंगलेश डबराल जैसे अन्य कई नाम थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि कविता की इन सुबहों ने श्रव्य-संस्कृति को पुनर्जीवित किया और रसिकों का एक चुनिंदा समूह भी तैयार किया। यह आठवाँ दशक ही था, जिसमें मंगलेश डबराल, असद जैदी, राजेश जोशी, विनय दुबे, नरेन्द्र जैन, उदय प्रकाश, विष्णु नागर जैसे स्वतंत्र कवि व्यक्तित्व आए। धूमिल और देवताले की तुलना में इन कवियों में मुखरता और बड़बोलापन बेहद कम था, पर अभिव्यक्ति की मार गजब की थी। इनकी प्रतिबद्धता भी गले में पट्टा डालकर जलनेवाले पशुओं जैसी नहीं थी । वैचारिक तौर पर ये अधिक संतुलित और अभिव्यक्ति प्रवीण थे। कविता और विचारधारा तथा कविता और लोक समाज को लेकर इनकी निष्ठाएँ अधिक निर्दोष और निगाह साफ-सुथरी थीं। काव्य-कला के आधार पर भी इनमें भड़ास शैली जैसी अकविता वालों की थी या फिर विक्षुब्ध भाषा नहीं थी, बल्कि इनकी कविता अधिक भाव-स्वच्छ, विनम्र, किंतु समझदारी और दायित्व सजगता में कहीं से भी लापरवाह नहीं थी। यही कारण है कि इनकी कविता ने बिचके हुए रसिक समाज को फिर से अपने प्रति उन्मुख किया और कविता और समाज के रिश्ते, जो बौद्धिकता और जटिलता के चलते असंप्रेषणीय होकर टूट-से गए थे, जुड़ने लगे। यह कविता चौंकाने या निराश, उदास करने की जगह हममें नए किस्म का उत्साह और उम्मीद पैदा करती थी। यहाँ न तो कोई उत्तेजकता थी, न हड़बड़ी, पर गंभीरता और व्यंजकता तो खूब।

बीसवीं शती के इस आठवें दशक में प्रगतिशील लेखक संघ के शक्तिशाली पुनर्गठन में हरिशंकर परसाई, ज्ञान रंजन और कमला प्रसाद ने निर्णायक भूमिका अदा की। इसी दशक में शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन आदि के महत्व को रेखांकित करते हुए प्रगतिशील लेखक संघ ने केदार, शमशेर और नागार्जुन के कार्यक्रम किए, जिनमें युवा कवियों और आलोचकों की भारी उपस्थिति रही। मध्यप्रदेश, इसकी राजधानी भोपाल धीरे-धीरे साहित्य का सत्ता केंद्र बनने लगा था और कविता जैसी अति पुरानी और पारंपरिक विधा दुबारा अपने रंग पर आने लगी थी। विचारधाराओं का शीतयुद्ध भी शुरू हो चुका था। यही काल खंड है, जब हैदराबाद के कवि

वेणुगोपाल उर्फ नंद किशोर शर्मा अपनी नौकरी गँवा भोपाल की शरण में आए और कुछ ही दिनों में मेरी पूर्व मित्रता के चलते कुछेक महीनों तक मेरे ही घर पर, बाद में स्वतंत्र कमरा किराए पर लेकर रहने लगे थे। हैदराबाद में वे जहाँ स्कूल शिक्षक थे, छात्रों के बीच उनकी लोकप्रिय उपस्थिति के बावजूद मैनेजमेन्ट की निगाह में उजाला है। ज्वालामुखी आदि नक्सल झुकाव के तेलुगु कवियों से अपने अंतरंग संबंधों के चलते विवादास्पद होकर स्कूल से हटा दिए गए थे। वेणु गोपाल के भोपाल आने पर राजेश जोशी जैसे गीतकार कवि ने अपनी कविता की दिशा बदली और कविता के युवा तुर्क की तरह पेश आने लगे। शायद यह वेणु गोपाल के संपर्कों के चलते संभव हुआ हो। वेणु गोपाल का पहला कविता-संग्रह 'वे हाथ होते हैं' भी भोपाल से ही प्रकाशित हुआ। इसकी कविताएँ निश्चय ही नक्सल झुकाव की ओर संकेत करती आईं थीं। दरअसल प्रधानमंत्री नेहरू के शासनकाल के अंतिम दिन और फिर चीन के हमले ने हम सबके सामूहिक विश्वासों और उम्मीदों पर नेहरू की अति भावुकता और अव्यावहारिकता के चलते पानी सा फेर दिया था और जवान हो रही पीढ़ी भयावह मोहभंग के अँधेरे में चली गई थी। इसी सातवें दशक में कांग्रेस के अटूट शासन-काल में दरारें आनी शुरू हुईं और जनता का मन न केवल बदलने लगा, बल्कि विक्षोभ से भी भर उठा। कवियों की चेतना पर इसका सबसे बुरा और गहरा प्रभाव पड़ा। राजकमल चौधरी, कैलाश वाजपेयी, धूमिल तो इस राष्ट्रीय पीड़ा से होकर गुज़र ही रहे थे, कुमारेंद्र पारसनाथ सिंह भी 'लहर' पत्रिका में निरंतर अपने इस भाव को दर्ज करते चल रहे थे। निस्संदेह सातवें दशक के ये सबसे अधिक चर्चित चेहरे थे, जिसमें एक और नाम श्रीकांत वर्मा का भी जुड़ता रहा। इन पंक्तियों के लेखक ने भी इसी कालखंड में 'मेरे देश को गालियाँ मत दो' जैसी विस्फोटक कविता लिखी, जिसकी कुछेक पंक्तियाँ अब भी याद करने का मन हो रहा है-

मेरे देश को गालियाँ मत दो / मेरा देश कल्पना है / धरती के आँगन में एक अल्पना है /मेरा देश / नदियों में बहता और ऋतुओं में हँसता है / मेरा देश / रोज-रोज दुर्भाग्य के दलदल में धँसता है / नागों सा फुफकार मारता सड़कों पर / मेरा देश हवाओं में विष घोले हैं/ हममें तुममें रोज बदलता चोले है / मेरा देश घटाओं से भी काला है/मेरा देश कोढ़ से भरा

कविता एक साथ जितनी कवि भवानी प्रसाद मिश्र को भायी, उतनी ही

हरिशंकर परसाई को भी। बाद में तो एक महत्वपूर्ण कविता के रूप में 'प्रगतिशील कविता के मील के पत्थर' जैसे संग्रहों में शामिल कर ली गई। कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने बाद में इसे 'बिंदु', (उदयपुर, संपादक: नंद चतुर्वेदी) ठीक आपातकाल के बीच साहस के साथ 'गाँधी मार्ग' जैसी ठेठ गाँधीवादी पत्रिका में पुनर्प्रकाशित कर यह संकेत भी दे दिया कि गाँधी-विचारों का एक अग्निधर्मी पक्ष भी है। ये वही भवानी प्रसाद मिश्र थे जो आठवें दशक में अपने पूज्य विनोबा का साथ छोड़ जयप्रकाश के साथ संपूर्ण क्रांति और सत्ता बदलाव की प्रत्यक्ष प्रतिरोधी भूमिका में उतर पड़े और त्रिकाल संध्या को कविताएँ लिखने लगे। संकेत साफ है कि अगर गाँधी ज़िंदा होते, तो वही करते जो जयप्रकाश कर रहे थे, न कि वह, जो विनोबा कर रहे थे। बीसवीं सदी का यह सातवाँ दशक भयानक उथल-पुथल का दौर था। इंदिरा गाँधी सत्ता के शीर्ष पर थीं और भ्रष्टाचार को विश्वव्यापी वातावरण कहकर बढ़ावा दे रही थीं। भारत के पूँजीपति आँख मूँदकर मुनाफा कमाने में लगे थे और नेता और अफसरशाही के दुखद गठजोड़ ने सारी राजनीतिक मर्यादाओं और सांस्कृतिक मूल्यों को ताख पर रखकर असीमित लूट-पाट में लग गए थे। ये वे लुटेरे थे, जिनके बारे में उन्हीं दिनों गोपालसिंह नेपाली जैसे कवि ने लिखा- 'बदनाम रहे बटमार मगर घर तो घरवालों ने लूटा / नैहर से लौटी डोली को बेदर्द कहारों ने लूटा।' इस पीड़ा को ही झेलते हुए गाँधी आस्थावाले कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने आगे की पंक्तियाँ भी लिखीं-

है चलनी नहीं चाहिए / समूचा जंगल जला देनेवाली आग / कौन कहता है जलनी नहीं चाहिए।

आठवें दशक के कवियों ने इसी वातावरण में साँस लेना शुरू किया था, किन्तु एक खास प्रकार की प्रतिबद्ध राजनीतिक चेतना के साथ। यद्यपि यह राजनीतिक चेतना कविता में बहुत वाचाल नहीं थी; तथापि इनकी निष्ठा तो समझ में आती ही थी। सत्ता और व्यवस्था को लेकर इन सबमें जो आक्रोश था, निश्चय ही बहुत समझदारी और कविता में व्यंजक-अभिव्यक्ति लेकर आया। सामाजिक, राजनीतिक यथार्थ का विडंबनामय चेहरा और सतह पर बजबजात उसकी विकृतियाँ-यथा सांप्रदायिकता,अवसरवाद, मूल्यहीनता, जन विमुखता, सत्ताखोरीवाद ये सब अपमूल्य इन्हें या कहें इन कवियों को प्रेरित, विक्षुब्ध और आंदोलित करते रहे। इनकी सबसे आक्रामक अभिव्यक्ति

धूमिल में तो सबसे गहरी और व्यंजक अभिव्यक्ति नयी कलात्मक भंगिमा के साथ विनोद कुमार शुक्ल में हुई। इस सातवें दशक का इतिहास लिखने वाले को तो अशोक वाजपेयी जैसे कवियों का नामोल्लेख भी करना पड़ेगा, किंतु आलोचक की निगाह और पद्धति तो उन निर्णायक मोड़ों और कवि-व्यक्तित्वों को लेकर होती है, जिनसे कविता का कोई विशेष काल खंड पहचाना जाता है। प्रतिभा और औसत प्रतिभा में फर्क तो इतिहासकार नहीं, आलोचक की प्रखर और निर्मम दृष्टि ही करती है। एक आलोचक ही साहित्य के उन आधारभूत सांस्कृतिक मूल्यों की खोज-खबर रखता और पूछ-परख करता है, जिनकी अनुपस्थिति में कविता अपने तात्कालिक यथार्थ की ही सीमा में कैद होकर रह जाती है। आठवें दशक की कविता में यह अनुपस्थिति खलती है और सातवाँ दशक भी इससे बरी नहीं कहा जा सकता। अब तो लगभग सर्वमान्य हो चुका है कि राजनीतिक या आर्थिक मनुष्य एक आधा-अधूरा मनुष्य है, क्योंकि मानवीय चेतना के ये आधार मूल्य उस स्वर्ण- कलश तक अपनी पहुँच नहीं ही बना पाते, जिससे सिर्फ पेट की सभ्यता नहीं, बुद्धि की प्रखरता नहीं, बल्कि आत्मा की गहराइयाँ और चेतना की संस्कृति परिभाषित होती है। आज यह सवाल उठाया जा सकता है कि सातवें और आठवें दशक की कविता ने मिल-जुलकर भी क्या कोई ऐसी कृति दी है, जो कवियों, आलोचकों की निगाह में निर्विवाद रूप से बड़ी हो? या फिर यह मानकर चलें कि हमें अब बड़ी कालजयी अथवा महान के मानकों से निकलकर अछूती जमीनों मामूली से मामूली उपस्थितियों, लगभग कविता के लिए अब तक गैर काव्यात्मक अस्तित्व वाली माने जानेवाली चीज़ों को इस कविता ने काव्य-नागरिकता प्रदान कर अपनी उदार और उन्मुक्त लोकतांत्रिक संवेदना और दृष्टि का परिचय दिया है। आलू और प्याज या फिर लालटेन सब इस कविता में अपनी नागरिकता पा सके हैं। कविता की यह उदार लोकतांत्रिक दृष्टि उसकी संवेदना का विस्तार करती है। वीरेन डंगवाल और कुमार विकल जैसे कवि अवश्य अपने प्रतिरोध, आक्रमक तेवर और कुछ नये काव्य विषयों की दृष्टि से यहाँ याद किये जा सकते हैं।

एक पारंपरिक काव्य- रसिक की तरह मैं यह नहीं भूल सकता कि इसी आठवें दशक में 'सूर्य का स्वागत' (छठवाँ दशक) के कवि अचानक नयी कविता की राह छोड़कर 'गज़ल की ओर मुड़ गए और हमें साये में धूप' (1976)

जैसा असाधारण काव्योपहार दिया। उनके इस आकस्मिक नवप्रस्थान से हिंदी ग़ज़ल जैसा एक नया किंतु प्रभावहीन काव्यांदोलन खड़ा हो गया। तब भी दुष्यंत की ग़ज़लें केवल आठवें नहीं, आज़ादी के बाद की कविता की एक बड़ी उपलब्धि कही जा सकती है। इसी आठवें दशक में शलभ श्रीराम सिंह की नज़्मों ने ध्यान खींचा और वे तमाम काव्यांदोलनों की तो नहीं, पर जनांदोलनों की जुबान जरूर बनीं। इसी सिलसिले में नौवें दशक में अदम गोंडवी की तेजाबी ग़ज़लें आती हैं, जिनमें पीड़ा का यथार्थ बोध आक्रामक आवाहन में रूपांतरित होकर जुझारू मुस्तैदी के साथ खड़ा है। यह किंतु कविता की केंद्रीय धारा नहीं है, पर जनजीवन की सहृदयता की भूख ने इसे ही अपनी कविता मानकर अपना लिया है। ऐसी स्थिति में हम पेशेवर रसज्ञों (?) के लिए यह एक बड़ा सवाल खड़ा हो गया है कि लोकतांत्रिक चेतना के दिन प्रतिदिन विकास और शिक्षितों के संसार के निरंतर व्यापक होते जाते लोक जीवन की नव-रसिकता के बीच अपने विशुद्ध साहित्यिक प्रतिमानों का ताल-मेल कैसे बिठाएँ। यो नवें दशक में चाहे एकांत श्रीवास्तव हों, चाहे देवी प्रसाद मिश्र या बोधिसत्व और बद्री नारायण या अग्नि शेखर- इनकी काव्य- दृष्टि और काव्य भाषा में विनम्र लोक समर्पण और लोक सजगता तो है ही, साफ-सुथरी संप्रेषणशीलता भी है। स्वप्निल श्रीवास्तव, लीलाधर मंडलोई, मदन कश्यप और विनोद दास को भी यहाँ याद किया जाना चाहिए। देवी प्रसाद मिश्र इन कवियों के बीच अपनी प्रखर सोच और गहरी काव्य-दृष्टि के चलते हमें आकृष्ट करते हैं, तो बोधिसत्व की कविताओं में खासतौर पर उनकी 'पागलदास' जैसी कविता में गहन संवेदनशीलता और मार्मिकता है। बद्री नारायण कुछेक दिनों तक तो अपनी 'प्रेम पत्र' जैसी कविताओं के चलते चर्चित रहे, किंतु अपने काव्य-व्यक्तित्व से कोई छाप उन्हें अभी छोड़नी है। देवी प्रसाद मिश्र ने अपने पहले कविता-संग्रह 'प्रार्थना' के शिल्प में जो उम्मीदें जगाई थीं, वे संभावना ही रह गई। परवर्ती दिनों में उनकी आकस्मिक उपस्थितियाँ और प्रयोगधर्मिता ने शायद ही कोई ध्यान खींचा हो। एकांत श्रीवास्तव ने अपनी कल्पना की कोमलता, ज़मीनी अनुभव प्रवणता और बारीक लोक सजगता के साथ अपने पहले संग्रह 'अन्न हैं मेरे शब्द' के मार्फत विशिष्ट उपस्थिति दर्ज कराई थी। उनकी काव्य-प्रतिभा अभी भी, या कहें परवर्ती संग्रहों में भी निरंतर कौंध फेंकती रही है। कुछ बेहद

अच्छी और संवेदनशीलता की दृष्टि से बहुत उल्लेखनीय कविताएँ (कन्हार, डूब, नागकेसर का देश यह) देकर उन्होंने हमें उम्मीद से भर रखा है। उनकी काव्य-यात्रा के प्रति एक औत्सुक्य बना रहता है। 1980 के बाद ही इसी दौर में कुमार अंबुज जैसे कवि आते हैं, जो अपनी गहरी कलात्मक बुनावट और प्रतिबद्ध दृष्टि के चलते हमारा ध्यान खींचते हैं। शताब्दी के अंतिम दशक में अनामिका, नीलेश रघुवंशी, सविता सिंह आती हैं, पर इनसे कुछ पहले कात्यायनी, जिनका काव्य एक अभियान जैसा है, जो जन संघर्षों की आँच में पला बढ़ा और विकसित हुआ है। कात्यायनी की कविताओं में एक खास प्रकार की वैचारिक ऊष्मा और सकर्मकता की गरमाहट है। इस तुलना में अनामिका की कविताएँ एक ओर स्त्रीवाद को हवा देती हैं, तो दूसरी ओर उस खुरदरी अनुभव प्रवणता की गंध से भरपूर हैं, जो लोकांचलों से चलकर उनकी काव्यभाषा को रंगीनी और गंध सौंपती है। नीलेश की कविताओं में घर-परिवार, माता-पिता, भाई-बहन को लेकर करुण संवेदनाएँ हैं, तो स्वयं के अस्तित्व को लेकर उनमें एक विलक्षण किस्म का आत्मविश्वास, खामोश साहस और सृजनशीलता काम करती है। काव्य- शिल्प में निर्दोष सादगी अपनाते हुए भी जब कभी वे नये संचार माध्यमों के जरिए नये-नये प्रयोग करती हैं, उनमें नाटकीयता के साथ-साथ जीवंतता और प्रबल लोकाभिमुखता सक्रिय हो उठती है।

सविता सिंह इस कविता कुंज में स्थानिक और ग्लोबल का अतिक्रमण करती हुई संवेदना के उस लोक की सृष्टि करती हैं, जहाँ स्त्री और प्रकृति तो समीप होकर खड़े ही हैं, प्रेम और जीवन के द्वन्द्व भी कोई कम नहीं हैं। उनकी कविताओं में एक प्रौढ़ जीवन-दृष्टि और मर्यादित सृजनशीलता और संवेदन-मयता है। उनकी ही कविता में उनका यह आत्मचित्र मुझे बरबस याद आ रहा है-

> मेरी माँ नहीं जानती थी / मेरी आँखों में असंख्य जुगनुओं का प्रकाश जगमगा रहा था / मेरी बाहें इतनी लम्बी थीं कि वे आकाश को छू सकती थीं / चाँद तारों से ले आ सकती थीं /
>
> उनके खगोलीय रहस्य |

इसी बीच गहरी काव्यात्मक बुनावट और सूक्ष्म संवेदन दृष्टि लेकर आने वाले दो कवियों आशुतोष दुबे और रविन्द्र स्वप्निल प्रजापति का आशा भरा उभार होता है। रवींद्र में नए-नए ख्यालों और अनुभवों की नई-नई

बस्तियों का भरोसे मंद सौंदर्य है, तो आशुतोष दुबे में अनुभवों की गहराई में डुबकियाँ लगाने का कौशल। इनके बाद तो संजय कुंदन, आर.चेतनक्रान्ति, सुंदर सिंह ठाकुर, अनिता वर्मा हमारा ध्यान खींचते हैं। अनिता की विरल और प्रौढ़ काव्य-दृष्टि हमें आश्वस्त करती और उम्मीद जगाती है।

शताब्दी के अंतिम दशकों से काव्यारंभ की शुरुआत कर अपने काव्याकर्षण से हमें मुग्ध करने वाले कवियों में कृष्णमोहन झा, प्रकाश, मनोज कुमार झा, राकेश रंजन, दिनेश कुशवाह, उमाशंकर चौधरी और निशांत हैं। इनमें विरल- संवेदनीयता के धनी प्रकाश, लोकजीवन के कवि मनोज कुमार झा और लोकप्रिय भंगिमाओं को लिए राकेश रंजन हमें आकृष्ट करते हैं। कृष्णमोहन झा की कविताओं में इन सबसे अलग सूक्ष्म परंपरा-बोध, अभिनव संवेदनशीलता और संतुलित जीवन-दृष्टि का सौंदर्य एक साथ देखा जा सकता है। इतने सारे गिनाए गए नामों के बावजूद कतिपय उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण नामों को स्मृति ने अपने असहयोग के चलते बिसरवा दिया, जो अपनी काव्य- गरिमा के नाते आठवें, नौवें और बाद के दशकों में भी अविस्मरणीय बने रहेंगे। वे हैं- आलोक धन्वा, कुमार विकल, अष्टभुजा शुक्ल और नरेश सक्सेना। इनकी कविताओं ने अपनी-अपनी जगह कविता के पाठकों और श्रोताओं को आंदोलित किया है। आलोक धन्वा की कविता 'गोली दागो पोस्टर' तो लोगों की स्मृति का अटूट हिस्सा है। कुमार विकल का कवि यदि एक ही वाक्य में कहा जाय, तो परिपूर्ण कवि हैं। वे जितने जिम्मेदार अपनी कविता के प्रति हैं, उतने ही समय, सभ्यता, संस्कृति और प्रकृति के प्रति भी। उनकी राजनीतिक दृष्टि भी सामाजिक दृष्टि जैसी ही प्रखर और संघर्ष आवाहनकारी है। केवल कविता लिखकर पुरुषार्थ सिद्ध हो जाने वाले महत्वाकांक्षी जमातों के बीच कविता को जीकर दिखानेवाले कुमार विकल अपनी प्रत्येक भंगिमा में जितने निश्छल और भोले थे, अपनी कविता मे उतने ही प्रखर मार्मिक और विमुग्धकारी भी।

अष्टभुजा शुक्ल ने अपने पहले काव्य-संग्रह 'पद-कुपद' के मार्फत भाषा की नई भंगिमा, काव्य वस्तु की यथार्थपरक छवियों और कथन की विलक्षणता को प्रतिपादित करते हुए परंपरा और आधुनिकता का जो युग्म रचा वह चमत्कारी था। पद शैली में जिसमें भक्तों और संतों ने गूढ़ दर्शन, आत्म-विनय और लीला दृश्य रचे उस सिद्ध छंद में

अपने समय का जलता हुआ कुपद कहकर कवि ने यह संदेश भी दिया कि परंपरा को देखने वाली दृष्टि में जैसी अभिनवता और सामर्थ्य चाहिए, वह किसी चुनौती से कम नहीं है। इतने सुविस्तृत, विविध-यामी, बहु विश्वासी परस्पर एक-दूसरे के सच को नकारते और झुठलाते। सामाजिक जीवन में कविता अपने समय का सच कहने के लिए हमेशा प्रतिश्रुत रही है। पचास बरसों में सन् साठ-पैंसठ से दो हज़ार दस तक भारी राजनीतिक उथल-पुथल, मोहभंग, पुनर्प्राशा, मोर्चाबंदी मोर्चाबंदी, उदासियाँ और मूल्य विलोपन, नये मूल्यों को लेकर कवि की आत्मसजगता और समझदारी, इन बीच किसी नए बड़े जनांदोलन का उ उठकर भी दिशा ग्रहण न कर पाना महत्वाकांक्षाओं के अँधेरे में सिमट जान भी कम विडंबनापूर्ण और दुखद नहीं है संभवतः ये ही कारण हैं कि पिछले पचास बरसों की कविताओं की चिंता पैदा करनेवाला तो है ही, कवियों का निरंतर अपनी सामूहिक उपलब्धियाँ इससे पहले की अर्धशति की तुलना में आश्वस्तकारी नहीं हैं। ■

समकालीन हिन्दी कविता : भूलने के विरुद्ध एक हिदायत

प्रो. अरुण कमल

संपूर्ण काव्य-परंपरा में समकालीन हिंदी कविता लगभग वैसे ही है, जैसे सौर-मंडल में पृथ्वी। इस विराट् काव्य-ब्रह्माण्ड में समकालीन हिंदी कविता एक कण मात्र ही तो है। इसी के साथ यह भी कहना जरूरी है कि यह कविता हमारी पृथ्वी की तरह ही जीवन से भरी पूरी है। सौर मंडल चाहे जितना भी द्युतिमान, रहस्यपूर्ण और भव्य हो, उसकी तुलना में पृथ्वी का जीवन-लोक कम महत्त्वपूर्ण नहीं। महान कविता लिखी गयी, महान कवि हुए, लेकिन वे कल के जीवन के प्रतिनिधि हैं, जिनका स्वर आज भी हमें टेरता है। जबकि समकालीन हिंदी कविता अभी के जीवन की कविता है, अभी के जीवन का एकमात्र साक्षी, अभी के जीवन के सुख-दुख का सहभागी, हर जन्म, हर उत्सव, हर मृत्यु में निरंतर शरीक। यह स्थान और भूमिका पीछे की महानतम् कविता के लिए भी आज न तो पूर्णतः संभव है न वांछनीय है। इसके साथ ही यह भी जोड़ना जरूरी है कि पृथ्वी की तरह ही समकालीन हिंदी कविता की भी दो गतियाँ हैं-एक तो दैनिक, संक्षिप्त गति जिससे दिन-रात का भान होता है और दूसरी व्यापक, वार्षिक गति। जब कभी हम केवल दैनिक गति को ही याद करते हैं तब लगता है कि 'लोग भूल गये हैं, अर्थात् तब लगता है कि यह कविता केवल तात्कालिक, तुरन्त या आशु प्रसंगों में उलझ पुलझ कर रह गयी है। इसका कोई व्यापक, बृहत्तर सन्दर्भ या चिंता नहीं है। जब कभी हम पृथ्वी की केवल वार्षिक गति को ही ध्यान में रखेंगे तो उसके उस अनवरत अनथक घूर्ण को ओझल कर रहे होंगे, जिसके बिना स्वयं वार्षिक गति भी संभव नहीं, न ही पृथ्वी का ब्रह्माण्ड में टिके रह पाना क्योंकि उस दैनिक गति के बिना वह ब्रह्मांड में स्थिर रह ही नहीं सकती। यहाँ स्थिर बने रहने के

लिए भी गति अपरिहार्य है। इसी तरह समकालीन वही हैं जो दिन-प्रतिदिन के क्षणभंगुर, क्षुद्र जीवन का संवाहक हो, जो मनुष्य के उठने-बैठने, जीने-मरने, सुख-दुःख, संघर्ष, गन्दगी, नीचता और मर्त्य का साक्षी हो। हर काल में, हर कविता ने यह किया है, अन्यथा वह अपना भार भी सँभाल नहीं सकती। आज की हिंदी कविता भी यह कर रही है। समकालीन कविता से मेरा आशय केवल उसी कविता से है जो आज के, अभी के जीवन के बारे में है। अभी लिखी जाकर भी अगर कोई कविता तथाकथित शाश्वत प्रश्नों तक ही संकीर्ण है और वह मिट्टी पर भी मोजे पहनकर चल रही है तो वह समकालीन कहलाने की न्यूनतम अर्हता से वंचित हो जाती है। इस खयाल से पिछले पचीस साल की हिंदी कविता को हम देखें तो पायेंगे कि यह कविता अभी के जीवन-रण में जूझती कटती मरती रही है।

समकालीन हिंदी कविता समकालीन इसलिए बन सकी कि उसने दैनंदिन जीवन-प्रसंगों और उन लोगों के जीवन के बारे में लिखा जो साधारण लोग हैं, शा-सन-सत्ता और पैसे से वंचित, जिनकी जीवित रह पाना ही सबसे बड़ी चिंता है और जो लगातार मरने से बचने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यह महाकाव्य या श्रेष्ठ काव्य का विषय भले न लगे, लेकिन समकालीन हिंदी कविता ने इसी को अपना आश्रय बनाया। राजेश जोशी की कविता के बिजली सुधारने वाले मजदूर उदय प्रकाश के कारीगर, असद जैदी की बहनें, विष्णु नागर के थके-मांदे लोग, मंगलेश डबराल के लकड़हारे बीरेन डंगवाल का रामसिंह, भगवत रावत के निम्न मध्यम वर्गीय परिवार, प्रभात त्रिपाठी के गिट्टी तोड़ने वाले मजदूर, चन्द्रकान्त देवताले की स्त्रियों जो जाने कब से गर्म पत्थर पर अपनी एड़ियाँ घिस रही हैं और विष्णु खरे का वह परिवार जो टैम्पू से घर बदल रहा है या अशोक वाजपेयी का वह मुहल्ला जहाँ हर घर दुकान बनने की होड़ में है ये सब उसी क्षुद्र जीवन की छवियाँ हैं। समकालीन हिंदी कविता ने इसी जीवन का संधान किया है, जो सम्पूर्ण हिंदी काव्य-परंपरा में अभूतपूर्व है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदार के अलावा रघुवीर सहाय भवानीप्रसाद मिश्र और 'दिनकर' भी यह करते रहे हैं। निराला के 'नये पत्ते' ने जो रास्ता चौड़ा किया, उस पर पहले श्री मुकुटधर पांडे और भारतेंदु चल चुके थे। लेकिन सन् अस्सी तक आते-आते हिंदी कविता का मूल कार्य इसी दैनंदिन जीवन के कोने-अंतरों,

अब तक अगोचर रहे क्षेत्रों की खोज हो गया। विजय कुमार मुम्बई की बस्तियों और सड़कों पर जीवन गुज़ारने वालों तक गये, राजेन्द्र शर्मा ने ऑफिस में काम करने वाली स्त्रियों को स्थान दिया, कुमार अम्बुज ने अपने समय की क्रूरता के शिकार लोगों का जीवन रचा, विनय दुबे ने 'नारायणपुर की कथा' कही और जितेन्द्र कुमार ने इस्पात नगरी की तथा लीलाधर जगूड़ी ने 'परिवारवाही' श्रमिक की इसी जीवन का संधान करते एकांत श्रीवास्तव और अष्टभुजा शुक्ल तथा हरिश्चंद्र पांडे और प्रेमशंकर शुक्ल सरीखे कवि गाँवों में गये, वहाँ के जीवन को एकत्र किया और ऐसी कविता की सृष्टि की जो पन्त की 'ग्राम्या' की याद दिलाती है। नवल शुक्ल ने उन फूलों की याद दिलायी जो आज तक हिंदी कविता से बाहर रहे और विनोद कुमार शुक्ल ने रायपुर सम्भाग के माध्यम से उस सम्पूर्ण जीवन सम्भाग का चित्रण किया जो प्रायः अनाहूत रह जाता है। लीलाधर मण्डलोई ने खदानों में काम करने वालों को सम्मान दिया और मोहन डहेरिया तथा बद्री नारायण ने समाज के हाशिये को। कहने का मतलब यह है कि समकालीन हिंदी कविता ने जीवन की चौहद्दी को बहुत व्यापक किया। उसने उस मनुष्य से प्रेम किया जो मनुष्य बने रहने के लिए, जो एक-एक साँस अर्जित करने के लिए संघर्ष कर रहा है और इसीलिए यह कविता राजनीतिक रूप से भी उस मनुष्य के पक्ष में खड़ी हुई। यह प्रतिपक्ष की कविता है। सत्ता, हर प्रकार की सत्ता के निषेध और उसके विरुद्ध जोर से 'ना' कहने की कविता है। यही करण है कि विश्व के पैमाने पर सोवियत संघ और समाजवादी संकुल के पतन के बाद भी यह कविता उसी त्वरा और दृढ़ता से 'ना' कहती रही क्योंकि इसकी जड़ें किसी ऊपरी व्यावहारिक राजनीति में नहीं, वरन् जीवन में जमी हैं, यह कविता जीवन का ही वृक्ष है। अगर हम थोड़ा गौर करें तो पायेंगे कि पिछले चालीस वर्षों में हिंदी क्षेत्र में जो भी अन्याय हुआ, यह कविता उसके विरोध में खड़ी रही और जो भी संघर्ष हुए उसके पक्ष में गुजरात के नरसंहार पर हिंदी कविता ने जिस करुणा, क्रोध और आर्तनाद को व्यक्त किया; वह वाल्मीकि और भवभूति से चली आ रही महान् भारतीय काव्य-परंपरा का ही प्रसार है। भक्ति आन्दोलन और स्वाधीनता-आन्दोलन के बाद संभवत: पहली बार किसी एक ही विषय पर इतनी कविताएँ, एक साथ लिखी गयीं, जो असद जैदी द्वारा संपादित दो खंडों में संकलित हुई। साथ ही काश्मीर की हिंसा और पलायन पर अग्निशेखर, महाराज कृष्ण सन्तोषी ने; आदिवासी

विस्थापन पर, विनय सौरभ, मोहन डेहरिया और हरिओम राजौरिया ने; विकास की हिंसा में लुप्त हो रहे पदार्थों के बारे में, ज्ञानेन्द्रपति, मलय और ओम भारती ने लिखा। तात्पर्य यह कि हिंदी कविता बिना किसी दुविधा के सत्ता विरोध में खड़ी रही। यह सत्ता राजनीतिक भी है, सामाजिक और सांस्कृतिक भी। पवन करण, संजय चतुर्वेदी, (खतना वाली कविता) अब्दुल बिस्मिल्ला और कात्यायनी, सविता सिंह, अनामिका तथा नीलेश रघुवंशी या प्रज्ञा रावत तथा सविता भार्गव की कविताएँ उसी सामाजिक सत्ता को, जो कई बार पितृसत्तात्मक भी है, चुनौती देती हैं। जिस तरह के अनुभव और प्रसंग इन कवियों की कविता में आ रहे हैं, वे पहले दुर्लभ थे, साथ ही जो प्रतिरोध प्रगट हो रहा है, वह भी पहले असंभव था। इसी के साथ एक महत्त्वपूर्ण घटना है स्त्रियों तथा समाज के वंचित वर्गों से बड़ी संख्या में कवियों का आगमन ऐसा कहते हुए मैं इस बात को भूल नहीं रहा कि कविता जाति-धर्म-लिंग से निर्धारित नहीं होती, फिर भी यह कहना जरूरी है कि भक्ति आन्दोलन के बाद पहली बार स्त्री तथा वंचित श्रेणियों से कवि इतनी बड़ी संख्या में हिंदी में आ रहे हैं। जीवन इतना व्यापक, जीवन का पाट इतना चौड़ा पहले कभी नहीं था।

समकालीन हिंदी कविता ने मनुष्य के आंतरिक जगत को भी नये-नये कोणों से अंकित किया। शमशेर और अज्ञेय ने, बच्चन और सियाराम शरण गुप्त ने जो गवाक्ष खोले थे, वे बंद नहीं हुए। जैसे-जैसे ये समकालीन कवि प्रौढ़ होते गये वैसे-वैसे वे मनुष्य के आभ्यन्तर की ओर उन्मुख हुए। केदारनाथ सिंह और कुँवरनारायण ऐसे कवि हैं, जहाँ बाह्य और आभ्यंतर का कोई विभाजन कभी नहीं रहा। और ये हमारे शिखर कवि भी हैं। लेकिन अशोक वाजपेयी, आग्नेय, मंगलेश डबराल, विमलकुमार, उदयन वाजपेयी और पंकज सिंह तथा नीलाभ की कविता भी मनुष्य के आभ्यंतर को व्यक्त करती है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की जैसी कविताएँ जिन विविध कोणों दृष्टियों से लिखी गयीं, जिस उन्मुक्तता तथा ऐन्द्रिक गहनता से लिखी गयीं, वे सहज ही निराला और बिहारी तथा घनानन्द की याद दिलाती हैं। पहले की कविता में इतने प्रसंग, इतने सूक्ष्म ब्यौरे, विवरण, तफ़सीलें नहीं थीं। यह एक बहुत बड़ा अन्तर हैं। जैसा कि एक विदेशी कहावत है, ईश्वर तफ़सीलों में

वास करता है, तो कविता भी तफ़सीलों में वास करती है। आज की कविता में मानव-मन की भी अनेक तफ़सीलें हैं। मानव-सम्बन्धों की इतनी बड़ी वीथिका पहले कम ही मिलती है। चाहे राजेश जोशी की पीठ खुजलाने वाली कविता हो या विष्णु खरे की पत्नियों के बारे में या आलोक धन्वा की ब्रूनों की बेटियाँ या नरेन्द्र जैन के सन्तप्त परिवार या विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की माँ की अन्त्येष्टि पर लिखी गयी मार्मिक कविता-समकालीन कविता ने जीवन के अनेक पक्षों को अपने में समेटने की कोशिश की।

एक बात जो अक्सर कही जाती है वह यह कि यह कविता स्मृतिहीनता की कविता है, निपट तात्कालिकता की कविता है, या यहाँ लय का लोप हो चुका है। अगर हम सम्पूर्ण काव्य-परिदृश्य को ध्यान में रखें तो पायेंगे कि ऐसा नहीं है। अगर हम एक-एक कविता को ध्यान से पढ़ें तो पायेंगे कि पूर्व निर्धारित यहाँ कुछ भी नहीं है। रमेशचन्द्र शाह और ध्रुव शुक्ल तथा अष्टभुजा और दिनेश कुमार शुक्ल और संजय चतुर्वेदी तथा वीरेन डंगवाल भी तो अभी ही लिख रहे हैं, जिन्होंने अनेक छन्दों-लयों का समायोजन किया है। ऋतुराज और विजेन्द्र की कविता अपने पूर्वजों की निरंतर याद दिलाने वाली कविता है। यहाँ हम केदारनाथ सिंह को छोड़ रहे हैं, जिनकी कविता स्मृतियों का पुंज है, जो अपने पूर्वजों की निरंतर याद दिलाती हैं। यहाँ तो हम बिल्कुल नये कवि कुमार वीरेन्द्र और अनिमेष तथा सविता सिंह की बात कर रहे हैं, जिनकी कविता भूलने से नहीं, बल्कि याद करने से उपजी हैं। यहीं पर यह भी जोड़ना जरूरी है कि समकालीन हिंदी कविता का काम केवल थोड़े से शब्दों से नहीं चलता। उसने अधिकाधिक शब्द-सम्पदा का व्यय किया है, कई बार अपव्यय भी। इतने नये शब्द आये हैं, इतनी नयी वस्तुएँ आयी हैं। पहले जो रूढ़ियाँ थीं, वो अब नहीं हैं। आज कोई बीज-शब्द भी नहीं हैं, न कुछ चिह्नित मुहावरे । इसलिए भी इतिहासकार को इस पूरे कालखण्ड की कविता के नामकरण में कठिनाई होती है। यह कविता इतनी पसरी हुई है, इतनी अनगढ़ और आकार मुक्त कि इसे किसी आन्दोलन या धारा का नाम दे पाना कठिन हैं। एक आरोप यह भी लगता है। कि यह कविता समझ में नहीं आती। ऐसा आरोप अक्सर वे लगाते हैं, जो स्वयं को लोकप्रिय समझते हैं। 'तेरे नैनों के बादल में मेरा हृदय चन्दा है' का क्या अर्थ, मैं आज तक समझ नहीं सका। लेकिन अभी की हिंदी कविता अपनी सादगी के कारण बहुत आसान

हो गयी हैं, कभी-कभी तो इतना आसान जितना कविता को नहीं होना चाहिए। इसलिए आज हिंदी कविता के पाठक पहले से कहीं अधिक हैं। यह ठीक हैं. कि पचास करोड़ के समाज में सौ हजार की क्या गिनती। फिर भी पहले की तुलना में आज की कविता के पाठक बढ़े हैं, लोगों की रुचि बढ़ी है। समकालीन कविता ने खोया हुआ पाठक वर्ग फिर से प्राप्त करने में कुछ सफलता जरूर पायी है। क्योंकि उसने साधारण लोगों की बात साधारण लोगों की भाषा में कही।

लेकिन इतना पर्याप्त नहीं है। पृथ्वी की जो दूसरी, व्यापक और महत्तर गति है, उसके बिना पृथ्वी केवल एक लट्टू बन कर रह जायेगी। कविता के सन्दर्भ में इस महत्तर गति का अर्थ है वह व्यापकता, सार्वभौमिकता और संक्षिष्टता हासिल करना, जिसके बिना श्रेष्ठ कविता संभव नहीं होती। जिसके बिना आज की कविता केवल आज की ही होकर रह जाती है। निराला, प्रसाद पन्त, मुक्तिबोध, शमशेर अज्ञेय और नागार्जुन जैसे कवि इसी महत्तर गति के कारण याद किये जाते हैं। निराला ने अपने समय की समकालीन कविता पर लिखते हुए कहा था कि अगर ये दीप समय की धारा में दूर तक नहीं जा पाये तो इसका का यह है कि इनमें 'घृत का अभाव थ

समकालीन हिंदी क निरंतर विकसित हो रही है। इसके कवि स्वयं को परिमार्जित, संशो कर रहे हैं। आशा है कि घृत का अ नहीं होगा। इस छोटे से लेख का अन्त केदारनाथ सिंह की एक सद्यः प्रका कविता से कर रहा हूँ।

मुझे कहीं जाना था
बँध चुका था सामान
मँगा लिया था टिकट कि सहसा या आया
काम के भीतर से
अभी कितने तो कार्य हैं
पनखियों की तरह निकलने लगे काम।

समकालीन हिंदी कविता को भी करने है अभी कितने तो काम। कामों का अन्त नहीं। लेकिन इस अंत के मामले में अनंत का दखल मुझे कतई मंजूर नहीं।

■

Get up, stand up, stand up for our rights

get up, stand up, don't give up the fight

\- BombMarley

'मेरा सब कुछ अप्रिय है तेरी नज़र में'- में सांस्कृतिक प्रतिरोध

डॉ.एस.आर. जयश्री
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

दुनिया में वर्ग और समाज के अस्तित्व के साथ वर्गीयशोषण की परंपरा भी है। दमन और शोषण का सीधा संबंध है। शोषण और दमन के विक्षोभ से प्रतिरोध जन्म लेता है। प्रतिरोध का स्वरूप दमन पर निर्भर है, जबकि दमन का स्वरूप शोषण पर निर्भर रहता है। शोषण, दमन और प्रतिरोध के बीच द्वंद्वात्मक संबंध है। प्रतिरोध का लक्ष्य या उद्देश्य सिर्फ यह है कि स्वतंत्र, समान और मूल्यों से पूर्ण एक प्रति - दुनिया का सृजन करने का प्रयास युगानुसार मानव के सभी प्रकार के मूल्यबोधबदलते हैं, बदलने की अनिवार्यता भी है। माने मूल्यबोध सतत विकसित है। पुराने मूल्यबोध जो हैं, उन्हें सुरक्षित रखते हुए नए - नए अर्थस्तरों का निर्माण करना वास्तव में प्रतिरोध है।

संस्कृति और प्रतिरोध को संबद्ध करके वैश्विक सामाजिक स्थिति पर सोच-विचार करने के युग में हम जी रहे हैं। मानव के हरेक कार्य व्यापार के बुनियादी लक्षण की खोज, उनकी सामाजिक संरचना को ध्यान में रखकर ही करनी है। सामाजिक मेलमिलाप, भाषाबोध, इतिहासबोध, वर्गबोध, स्वतंत्रता-बोध, न्याय-बोध आदि सामाजिक संरचना की अंतर्वस्तुएँ हैं।

ऐसी एक सामाजिक संरचना का वैज्ञानिक एवं तर्कसंगत ढंग से विवेचन-विश्लेषण व मूल्यांकन करने से 'संस्कृति' के अर्थ की नई भावभूमि आलोकित हो जाती है। मतलब यह है कि संस्कृति जो है, ज़िंदगी की समग्रता पर ही केंद्रित नहीं, इसमें सतत विद्रोह और संघर्ष की भावना विद्यमान है। एक व्यक्ति या समाज को इस प्रकार के एक संघर्ष की ओर ले जाने वाले के लिए कई कारण होते हैं। अत्याचार और अन्याय की जानकारी तथा स्वतंत्रता बोध, ये दोनो मिलकर व्यक्ति को संघर्ष की ओर उन्मुख करते हैं। यानी हरेक विद्रोह के पीछे एक सशक्त सामाजिक बोध है।

प्रतिरोध की प्रक्रिया की प्रविधि वर्चस्व की उपस्थिति और उसके हस्तक्षेप के आधार पर रूपायित हो जाती है। वर्चस्व की एक सहज परिणति है कि वह विद्रोह व प्रतिरोध को आमंत्रित करते ही रहता है।

औपनिवेशिक काल में वर्चस्व के विविध रूप हमने देखे हैं। नवउपनिवेशिकता के वर्तमान दौर में इस वर्चस्व का रूप बदल गया है। बाजारीकरण, उदारीकरण, निजीकरण आदि ने मिलकर ग्लोबल कल्चर हमपर थोप दिया है। इस वैश्विक माहौल में 'प्रतिरोध' शब्द की राजनीतिक और सांस्कृतिक स्तर पर अनेक व्याख्याएँ हैं। प्रतिरोध का सांस्कृतिक स्तर अतिविशाल है। समाज और दुनिया में मौजूद वर्चस्व व उपनिवेश के चिह्नों का प्रतिरोध करनेवाली तथा संघर्ष को आत्मसात करनेवाली सृजनात्मक शैली को 'प्रतिरोध की संस्कृति' कहते हैं। इसी प्रकार का सृजनात्मक हस्तक्षेप कला, साहित्य तथा मानव के अन्य सक्रिय कार्य-व्यवहारों में केंद्रित है। साथ-ही-साथ स्वतंत्रता और सामाजिक समानता की एक प्रति-संस्कृति का निर्माण करना भी सांस्कृतिक प्रतिरोध का लक्ष्य है। भाषा और साहित्य सांस्कृतिक विवेचन विश्लेषण के महत्वपूर्ण घटक हैं लेकिन नवउपनिवेशिक सांस्कृतिक वातावरण में अन्य अनेक सूक्ष्म सांस्कृतिक घटक वर्चस्व व प्रतिरोध के बिंद बन जाते हैं। इसी प्रकार के बिंबों तथा उनका रूपायित होने के वातावरण पर विश्लेषण करने की जरूरत है। मुख्य धारा और हाशिएकृत - इसी प्रकार का श्रेणी-विभाजन हमारे समाज में है। इस प्रकार विभाजित सांस्कृतिक चिह्नों को रद्द करना तथा सामाजिक समानता एवं स्वत्वपरक चिह्नों को संस्कृति में रूपायित करना प्रतिरोध की संस्कृति का दायित्व है। इसलिए प्रतिरोध का

कार्य, सामाजिक कार्य के समान सांस्कृतिक और राजनैतिक कार्य भी है।

संस्कृति का अध्ययन और सांस्कृतिक अध्ययन में अंतर है। एक समाज के सृजनात्मक स्रोतों का, सांस्कृतिक आधार पर अध्ययन करना सांस्कृतिक अध्ययन है। लेकिन एक समाज की वेशभूषा, रीति-रिवाज, खान-पान, आचार-विचार आदि का अध्ययन संस्कृति के अध्ययन के अंतर्गत आता है। एक समाज के सृजनात्मक स्रोतों को चिह्नित किए बिना किसी-न-किसी प्रकार का सांस्कृतिक अध्ययन पूर्ण नहीं होता है। कहानी, कविता, आत्मकथा, उपन्यास, निबंध आदि साहित्यिक विधाओं में समाज की चिंताएँ, राजनीति, सपने सब कुछ प्रतिबिंबित होते हैं। बहुस्वरता के ये सांस्कृतिक चिह्न शायद इन सभी विधाओं में छिपे हुए हैं। साहित्य में सबसे पहले 'प्रतिरोध' शब्द का प्रयोग पलस्तीन लेखक गस्सन कनफानी ने किया है। लिटरेचर ऑफ रेसिस्टेंस इन ओक्युपाइड पालस्तीन 1948-1966' नामक ग्रंथ में कनफानी ने दो तरह के साहित्य के बारे में जिक्र किया है।

जैसे - औपनिवेशिक साहित्य और प्रतिरोधी साहित्य। हरेक प्रदेश का सविशेष सांस्कृतिक वातावरण, साहित्य की संरचना एवं उसके स्वरूप में गंभीर परिवर्तन लाता है। साहित्य, समाज के अंतरूनी सच को प्रतिफलित करता है। फिर भी जो घटक प्रकट होते हैं, उससे ज्यादा वे गुप्त रूप में ही साहित्य में अंतर्निहित होते हैं। औपनिवेशिक जनता और उपनिवेशी (उपनिवेश स्थापित करनेवाले) दीर्घकाल एक साथ रहते हैं तो वहाँ सत्ता एवं प्रतिरोध का सांस्कृतिक चिह्न जरूर प्रकट होता है। इस प्रकार सत्ता और उपनिवेशी के खिलाफ जनता में होने वाले आंदोलन के समान महत्वपूर्ण है, साहित्य का प्रतिरोध भी। औपनिवेशिक भारत की सभी भाषाओं का साहित्य इसका उदाहरण है। भारत में प्रतिरोध का आंदोलन तथा प्रतिरोध का स।हित्य भी हुए हैं। साहित्य में वर्चस्व के खिलाफ विचारों का रूपायन हुआ है। लेखक की सामाजिक प्रतिबद्धता तथा स्वतंत्रता-बोध ये दोनों मिलकर सत्ता की चुनौती करनेवाले प्रति-साहित्य का सृजन करते हैं। लेखक के समान पाठक भी समाज के वर्चस्व के स्वरूप का विखंडन करते रहते हैं। क्योंकि उत्तराधुनिक युग में लेखन की अपेक्षा, पठन का अधिक महत्व है। इसलिए कला और संस्कृति के वचस्व क ाचह्ना का प्रातराध करन का क्षमता पठन को है।

नवऔपनिवेशिकता के वर्तमान युग में प्रतिरोध का साहित्य अनेक प्रकार से, अधिकार के हस्तक्षेप के विरुद्ध कार्य करता है। भाषा एक 'सिस्टम' या व्यवस्था है जिसका निर्माण चिह्नों से होता है। भाषा, अध्ययन, स्वरूप जैसे अनेक स्तरों में साहित्य में प्रतिरोध रूपायित हो सकता है। देश, शासन- तंत्र, जनता, वर्ण, वर्ग, लिंग, संस्कृति, राजनीति जैसे बहुआयामी कारणों से साहित्य में वर्चस्व और प्रतिरोध का सृजन हुआ करता है। शोषक और शोषित, तीसरी दुनिया और पहली दुनिया, स्त्री और पुरुष, सवर्ण और अवर्ण, वरेण्य और दलित-ऐसी द्वंद्वात्मक संकल्पनाएँ हमारे समाज में उपस्थित हैं। जिस काल, समाज या वातावरण में इन सबका रूपायन हुआ है, वे सब प्रतिरोधी साहित्य की संरचना को परिभाषित करते हैं। किसी एक कृति में मौजूद शोषण व्यवस्था का अंकन उस कृति का आंतरिक पाठ, किस प्रकार करता है, उसका सविशेष अध्ययन प्रतिरोध का साहित्य करता है। एक कृति के आंतरिक पाठ में मौजूद शोषण व्यवस्था को प्रतिरोध करने की ताकत है। इस प्रकार की खोज भी प्रतिरो साहित्य में महत्वपूर्ण है। औपनिवेशि और उपनिवेशी साहित्य इन दोनों अंतर सिर्फ अंतर्वस्तु में ही नहीं, भाषा भी विद्यमान है। स्त्री-साहित्य, दलि साहित्य, पारिस्थितिक साहित आदिवासी- साहित्य इस प्रकार स्वत्वात्मक पहचान का कारक बन गा है, प्रतिरोध का साहित्य मुख्यधा संस्कृति से कभी भी हाशिएकृत न हो के लिए, सांस्कृतिक सजगता के सा कायम रहनेवाले प्रति-संगठन, संस्कृ और साहित्य में नवीन प्रजातांत्रिक शैल के कारण बने रहते हैं।

प्रतिरोधात्मक कार्य बहुत सा लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए संस्कृ पर अपना हस्तक्षेप करते हैं। को सांस्कृतिक धारा किसी समाज में अपन वर्चस्व स्थापित करती है, तो उसके ना चिह्नों को पहचानना और पर्दाफाश करना है। इन वर्चस्व के चिह्नों समाज में जो सामाजिक बोध रूपायित किया है, उसको पहचानना सांस्कृति प्रतिरोध का एक लक्ष्य है। सभी प्रकार की सामाजिक- सांस्कृतिक धाराओं को पल्लवित व विकसित होने का माहौल तैयार करना है।

प्रतिरोध हर युग में था, आदि-कवि वाल्मीकि के आदि काव्य से लेकर भारतीय साहित्य में अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध प्रतिरोध एवं असंतोष का स्वर गूँजता है। युगानुसार साहित्यिक प्रतिरोध का स्वर बदला है। समकालीन साहित्य का यह प्रतिरोध समय सापेक्ष, अस्मिता बोध या आत्म पहचान का परिणाम है। साहित्यिक प्रतिरोध के तीन कदम हैं:-

1.सामाजिक व्यवस्था की पहचान

2. नयी व्यवस्था का निर्माण

3. अनुचित व्यवस्था का ध्वंस

प्रतिरोध में ध्वंस और निर्माण है। अगर निर्माण का अंश शामिल नहीं है तो वह प्रतिरोध सहज ध्वंस मात्र बनकर रह जाता है।

प्रतिरोध की संस्कृति को एक सैद्धांतिक पक्ष देने में इटली के अंटोनियो ग्राफ़ी का योगदान है। वे इटली के सैद्धांतिक हैं। छियालीस साल की उनकी जिंदगी संघर्षमय थी। व्यावहारिक और सैद्धांतिक स्तर में ग्राफ़ी की देन प्रतिरोध की संस्कृति के लिए एक मार्गदर्शक बनी है। सत्ता का विरोध करने के लिए अपनी चिंता और बुद्धि का उन्होंने समर्पण किया था।

हिन्दी कविता की विकास यात्रा पर विचार करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्राष्मि के वर्चस्व की चिंता को कवियों ने अपनाया है और व्यक्त भी किया है कि चाहे कोई भी सामाजिक प्रक्रिया हो उसने आर्थिक-राजनीतिक सत्ता से कभी भी मुक्ति नहीं पायी है। राजेश जोशी ने लिखा है- "यह कविता अपनी ओर से बहुत ज्यादा नहीं बोलती, वह व्यक्त और वर्णित सच्चाईओं और वास्तविकताओं को ज्यादा से ज्यादा बोलने की स्पेस बनाती है। अगर इसमें कवि का वक्तव्य है भी तो वह एक किस्म का अण्डर स्टेटमेंट है, जो पंक्तियों के बीच पढे जाने की दरकार रखता है। यह इस कविता की एक बडी खूबी भी है और कई बार इसकी सीमाएँ भी, क्योंकि इस तरह एक किस्म की समझदारी या बौद्धिक विश्लेषणात्मकता युयुत्सा का स्थानापन्न भी बन जाती है।"

(एक कवि की दूसरी नोटबुक- समकलीनता और साहित्य-राजेश जोशी 40)

संथाली भाषा की कवयित्री निर्मला पुतुल की 'मेरा सब कुछ अप्रिय है तेरी नजर में' आदिवासी समाज, संस्कृति और प्रतिरोध पर रूपायित कविता है। सवर्ण-अवर्ण, काला-गौरा, शोषक-शोषित, स्त्री-पुरुष इस प्रकार के अनेक वर्गों से वैश्विक समाज बांटा हुआ है। 'हशिएकृत समाज' यह संज्ञा

अभिव्यक्त जनसमूह के हरेक व्यक्ति के अंतर्मन में हमेशा एक क्रांति पैदा करती है कि 'इस समाज में मेरा स्थान कहाँ है? 'समाज में अपनी उपस्थिति स्थापित करने के लिए संघर्षरत भी होते हैं। संघर्ष के बीच न जाने-पहचाने वे एक Third space में पहुँच जाते हैं। (Third space' विख्यात आलोचक होमी भाभा द्वारा ने प्रवासियों के लिए प्रयुक्त किया गया शब्द है।) अपनी धरती, जनता, भाषा, संस्कृति से वे हाशिए होकर इस Third space में जीने के लिए विवश हो जाते हैं। आदिवासी समाज की जिंदगी इसकी नतीजा है। यह कविता उनके सामाजिक जीवन का प्रत्यक्षीकरण करती है। कविता के बारे में रामविलास शर्मा का कथन इस संदर्भ में चिंतनीय भी है – कविता सामाजिक कार्य प्रत्यक्ष ढंग से नहीं करती बल्कि कविता अपने कार्य में अंशतः स्वप्न के समान होती है। और कविता में फैंटसी का महत्वपूर्ण स्थान है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि कविता स्वप्न ही है। वस्तुतः वह स्वप्न से भिन्न होती है। स्वप्न की तरह भाव कविता द्वारा एक काल्पनिक फैंटसी के रूप में निर्मित करता है और अपनी अधूरी इच्छा को उसमें व्यक्त करता है। मानव समस्त कार्यों को, जिन्हें वह करना चाहता है, उनकी कल्पना सृष्टि करके फैंटसी निर्मित करता है।

(पाश्चात्य आलोचक और आलोचना - नामवरसिंह 115)

हर युग में शासक वर्ग की विचारधारा ही नियामक विचारधारा होती है। इसके आधार पर कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली कि हर युग में शासक वर्ग की संस्कृति ही नियामक संस्कृति है। इसके जरिए अस्मिता के रंग-रूप में बदलाव घटित होता है।

वे घृणा करते हैं हम से

हमारे कालेपन से

हँसते हैं, व्यंग्य करते हैं हम पर

हमारे अनगढ़पन पर कसते हैं फब्तियाँ

मजाक उड़ाते हैं हमारी भाषा का

हमारे चाल-चलन रीति-रिवाज

कुछ भी पसंद नहीं उन्हें

पसंद नहीं है, हमारा पहनावा ओढ़ावा

'वे घृणा करते हैं, हमसे हमारे कालेपन से' वे कौन है, औपनिवेशिक दौर में 'वे' अंग्रेजी सत्ता है। 'हम' संपूर्ण भारतीय हैं। औपनिवेशिकता का जो अभियान भारत में चल रहा था इसका परिणाम यह था कि भारतीय का अपना सेल्फ औपनिवेशिक सेल्फ में बदल गया।

पश्चिम का उपनिवेशवाद अपने सारे पाखंड और बर्बरता के साथ दुनिया को गुलाम बनाने लगे थे। बर्बर समाज के लिए ब्रिटिश तानाशाही बेहतर है। अंग्रेज़ों के सांस्कृतिक परिवेश के समान भारतीयों को लाना उनकी बोझ बनी। इस प्रकार एक कोलोनिअल कल्चर थोपा दिया। उनका एक पॉलिटिकल एजेंडा था यानी अपनी अस्मिता का निर्णय करने वाले सभी घटक-भाषा. देश नस्ले सब अन्य बन गए, कॉलोनियल सेल्फ में बदल गए। यह एक सामाजिक परिणाम था, भारत के भूगोल और इतिहास पर ही नहीं बल्कि यहाँ के लोगों के दिलों दिमाग को भी उपनिवेश बनाया। हम अपने कालेपन यानी अपनी सभ्यता पर गर्व करते हैं, बहुत सारी कमियाँ हमको हैं। लेकिन हमें स्वतंत्रता चाहिए। हमारी कमियों की जांच हम भारतीय करेंगे। समाज में समान रूप से जीने का अधिकार ही चाहिए। संस्कृति और सत्ता का यह संबंध नया लगते भी एकदम नया नहीं है। इसका इतिहास काफी पुराना है अगर हम इतिहास पर नजर डालें तो सब और संस्कृति के बदलते संबंधों को समझने में मदद मिलेगी लंबे इतिहास में सत्ताह और संस्कृति के संबंध बहुत बदल गए हैं लेकिन इतने नहीं बदले है कि नए का पुराने से कोई संबंध ना हो। आज भी सत्ता के सलाहकार अपने पूर्वजों की सलाह उनसे लाभ उड़ती है उठाता है कई बार होने दोहराते हैं। रोमिला थापर का विचार है- राष्ट्रों का निर्माण समावेशित पहचान से होता है। जब औपनिवेशिक शासन समाप्त होता है और नया राष्ट्र उभरता है, तब किसी समाज में भिन्न – भिन्न पहचानों – जातिगत, धार्मिक, भाषागत, नस्ली के बीच यह संघर्ष रहता है कि कौन सी पहचान प्रमुख हो जाये। औपनिवेशिक विरोधी राष्ट्रीयता भारत में अधिकांशतः धर्मनिरपेक्ष रही है परंतु इसके साथ-ही साथ धार्मिक राष्ट्रीयताएँ-हिंदु और इस्लाम भी उभरीं। भारतीय समाज और इसके इतिहास में औपनिवेशिक दृष्टि ने धार्मिक राष्ट्रीयता को बढावा दिया। (भारत में पब्लिक इंटैलैक्चुअल - रोमिला थापर 16)

नवऔपनिवेशिक दौर में बदले हुए सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक संदर्भ में उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण आदि ने वैश्विक अस्मिता को परिवर्तित कर दिया है। समकालीन भारतीय समाज में मौजूद सवर्ण-अवर्ण अस्मिता का problematIce करते हुए इस कविता का अध्ययन संभव है। सत्ता जनता के हित के लिए योजनाएँ लागू करती है। उन योजनाओं का फायदा समाज के सभी तबके के लोगों के लिए समान रूप से प्राप्त होना चाहिए। हरेक

तबके की जनता की अपनी-अपनी खासियत है, विविधाताएँ भी हैं। उनकी इन विशेषताओं को ध्यान में रखकर ही सत्ता द्वारा योजनाएँ लागू करनी चाहिए। नहीं तो वह जनता वंचित हो जाएगी।

जंगली, असभ्य, पिछड़ा कह
हिकारत से देखते हैं हमें
और अपने को सभ्य श्रेष्ठ समझ
नकारते हैं हमारी चीजों को

लेकिन आजकल विकास की वर्तमान प्रक्रिया आंतरिक उपनिवेशवाद की ओर बढ़ रही है। जिसका शिकार है हाशिएकृत समाज। इसका फल यह है कि आज के दौर में शासक देशी हैं, पाखंड तथा बर्बरता की प्रक्रिया पहले से अधिक परिष्कृत तथा जटिल है। असभ्यों को सभ्य बनाने तथा मानवाधिकार की रक्षा की बातें करते हैं। जानी-पहचानी पुरानी शैली है, जो हाशिएकृतों को धोखा देने का काम करती है। वह भी सत्ता का Agenda है।

आदिवासी की बात ले। भारतीय होते हुए भी भारतीय समाज का अंग नहीं समझा जाता है। वे हाशिए पर जीने-मरने के लिए मजबूर हैं। उस समाज में सत्ता किस प्रकार हस्तक्षेप करती है, देखिए, संस्कृति दो प्रकार के हैं- पतनशील संस्कृति तथा प्रभुत्वशाली संस्कृति। आदिवासी संस्कृति को पतनशील संस्कृति मानी जाती है, लेकिन आदिवासियों के लिए अपनी संस्कृति संपन्न है, उन पर गर्व भी है। सभ्य समाज का उद्देश्य है आदिवासी संस्कृति का संस्कृतीकरण करना। उनकी संस्कृति को प्रभुत्व शाली संस्कृति में मिलाकर सत्ता यह कार्य करती है। आदिवासी समाज अपने मूल्यों को छोड़कर प्रभुत्व शाली संस्कृति से मिलकर जीवित रहने की स्थिति में आ पहुँचता है। उच्च वर्ग के अनुसार अपनी विशेषताओं को खोकर जीना उनकेलिए मुश्किल हो जाती अपने ढंग से जीना, विशेषकर अपने नैतिक मूल्यों के आधार पर जीना बड़ी चुनौती होती है। इसी प्रकार सत्ता का वर्चस्व एक जनता को दूसरी जनता में तब्दील करता है।

बहुसांस्कृतिक और बहुलता के इस देश में हर एक जनजाति का अपना मूल्य है। इसके बदले standardise करते हुए एकल संस्कृति का सर्जन करना सभ्य समाज के लिए उचित है। "सच्चा लोकतंत्र वही होगा जिसमें पूरे समाज में स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व की भावनाएँ वास्तविक रूप में मौजूद हो, केवल मंत्र के रूप में नहीं शासन तंत्र के व्यवहार में भी। इन तीनों

में सबसे महत्वपूर्ण समानता है, क्योंकि उसके अभाव में न समाज में सभी स्वतंत्र स्वतंत्र हो सकते हैं और न उनके बीच बंधुत्व की भावना हो सकती है। पूजीवादी लोकतंत्र में समानता की ना तो कल्पना होती है और ना संभावना। उसमें केवल पूँजीपतियों को स्वतंत्रता प्राप्त होती है और मजदूरों से उनका विरोध स्थाई होता है। "

काला होना गुलामी या निम्नता की निशानी नहीं, काले होने पर हमें गर्व है। स्वाभिमान का बोध है। काला रंग मुझे पसंद है, दूसरों को पसंद है नहीं, यह जानना मेरे लिए जरूरी नहीं। उसे अपना रंग खूब भाता है।

हमारे बीच रहते हमारी भाषा
चाहते हैं, उनकी भाषा सीखे हम
और उन्हीं की भाषा में बात करें उनसे
उनका तर्क है कि
सभ्य होने के लिए जरूरी है उनकी भाषा सीखना
उनकी तरह बोलना-बतियाना
उठना-बैठना

आदिवासी जनता के बीच लागू किए जाने वाले सांस्कृतिक उत्थान के कार्य, समाज के केंद्र में उन्हें पहुँचाने की योजनाएँ विकास के नाम पर होने वाले मानकीकरण की प्रवृति आदि अस्मिता की समस्या बन जाती है। इस प्रकार हाशिएकृत के स्वत्व की राजनीति यहाँ कवि साझा करती है। इस राजनीति का साफ संदेश है कि स्वावलंबन पर आधारित जीवन शैली और उनकी संस्कृति पर टिकी विकास नीति ही समतामूलक समाज का निर्माण कर सकती है।

इस प्रकार वर्तमान राजनीतिक-सांस्कृतिक समस्याओं का विश्लेषण करते हुए आदिवासी के मानकीकरण का विरोध करती है। सत्ता जिसके हाथ में subject positional पर वही होगा वक्ता भी वही होगा। इस राजनैतिक विसंगति को तोड़ मरोड़ करती है। -

जरूरी है सभ्य होने के लिए उनकी तरह
पहनना ओढना'

'मेरा सब कुछ अप्रिय है उनकी नजर में,
मेरे पसीने से पुष्ट हुए अनाज के दाने
जंगल के फूल, फल, लकड़ियाँ
खेतों में उगी सब्जियाँ
घर की मुर्गियाँ
'उन्हें प्रिय है
मेरी गदराई देह
मेरा माँस प्रिय है उन्हें!'

■

अनामिका की स्त्री दृष्टि : एक नूतन पाठ

प्रोफ.आर.जयचंद्रन
निदेशक ,स्कूल ऑफ इंडियन लैंग्वेजज़, केरल विश्वविद्यालय, तिरुवनंतपुरम, केरल

दुनिया भर में नारीवादी अध्ययनों ने साहित्यिक कैनन में महिला लेखकों के उद्भव का जश्न मनाया है, जिसने वास्तव में प्रकाशिकी को बदल दिया है। जब महिलाओं द्वारा अपने लेखन के माध्यम से जीवित अनुभवों को साझा किया जाता है, तो यह उन्हें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और पारिवारिक संरचनाओं को तोड़ने का अधिकार देता है, जिन्होंने हमेशा उन्हें समान होने के अधिकार से वंचित किया है और उन्हें अधीन महसूस कराया है।

अनामिका लंबे समय से लिख रही हैं, लेकिन उनकी कविता ने 90 के दशक के दौरान नारीवादी प्रवचन में महत्वपूर्ण पैठ बनाई। यह दशक भारतीय समाज में घटनाओं के महत्वपूर्ण मोड़ का गवाह बना। आर्थिक उदारीकरण की वैश्विक लहर के साथ, समाज खुलने लगा। महिलाओं ने राष्ट्रीय इक्विटी में अपना दावा करना शुरू कर दिया। नारीवादी विचार अब महिलाओं द्वारा स्वयं के दावे तक सीमित नहीं था। वे मुख्यधारा के सामाजिक-राजनीतिक रुब्रिक में बड़ी भागीदारी चाहते थे। साहित्यिक और सांस्कृतिक इतिहास भी इस समय एक नए युग की दहलीज पर था। हाशिये से आवाज़ें ज़ोर पकड़ रही थीं और सुनी जा रही थीं। अनामिका की कविता इन सभी मुद्दों को अधिक संवेदनशीलता के साथ छूती है।

The early impressions of her father's writings on her. "A famous poet, he used to read to me poetry and excerpts from his favourite books. We used to play

antakshari of poetry and when my limited stock of poetry got exhausted, I used make up my own. It eventually honed the poet in me," she shared. Watching and observing women around her during childhood and grown-up years, she used the stories and pain narrated through those in her writings. Her work primarily highlights the plight of women and the patriarchal mindsets that still prevail.

बेचैन पूछताछ

एक विस्तृत कैनवास पर एक पेंटिंग की तरह, अनामिका की कविता विभिन्न तत्वों से छवियों को बुनती है। काफी हद तक, यह मध्य पूर्व भारत की लोक और मौखिक परंपराओं में निहित है। वह प्रभावी रूप से हमारे जीवन के रोजमर्रा के अनुभवों के साथ ज्ञान को जोड़ती है और इस प्रक्रिया में बेतुकेपन, विरोधाभासों और विडंबनाओं का ढेर खोलती है।

भाषा के प्रभावी उपकरण के रूप में बुद्धि का उपयोग करते हुए, वह छवियों, ध्वनियों और शब्दों का एक परस्पर क्रिया बनाती है जो सीधे पितृसत्ता के सामंतवादी गढ़ को चुनौती देती है। यद्यपि कवि दृढ़ता से विश्वास करता है और प्रत्येक इंसान के लिए खड़ा होता है, जिसकी गरिमा दमनकारी सामाजिक संरचनाओं द्वारा समझौता की जाती है, अपने तरीके से, कविता के बाद कविता में, वह ग्राफिक विवरण के साथ महिलाओं के विरोधाभासी जीवन को प्रस्तुत करती है।

अनामिका की कविताएँ 'व्यक्तिगत राजनीतिक है' वाक्यांश को व्यक्त करती हैं। परिवार के भीतर 'व्यक्तिगत' की भव्य कथा की उनकी बेचैन पूछताछ पितृसत्ता के उच्च नैतिक आधार को उजागर करती है जो बेहद अपमानजनक और स्वाभाविक रूप से हिंसक है। घर में महिलाओं को वश में करना एक तरह की हिंसा है जिसे रिकॉर्ड नहीं किया जाता है।

महिलाओं को सेवा के जीवन के लिए तैयार किया जाता है। अनामिका की कविता शीर्षक 'बेजगह' में, खेदजनक स्थिति को सही ढंग से चित्रित करता है:

"अपनी जगह से गिर कर
कहीं के नहीं रहते
केश, औरतें और नाख़ून" -
अन्वय करते थे किसी श्लोक को ऐसे
हमारे संस्कृत टीचर।
और मारे डर के जम जाती थीं

हम लड़कियाँ अपनी जगह पर।

जगह? जगह क्या होती है?
यह वैसे जान लिया था हमने
अपनी पहली कक्षा में ही।

याद था हमें एक-एक क्षण
आरंभिक पाठों का-
राम, पाठशाला जा!
राधा, खाना पका !
राम, आ बताशा खा !
राधा, झाड़ू लगा !
भैया अब सोएगा
जाकर बिस्तर बिछा !
अहा, नया घर है !
राम, देख यह तेरा कमरा है !
'और मेरा ?'
'ओ पगली,
लड़कियाँ हवा, धूप, मिट्टी होती हैं
उनका कोई घर नहीं होता।"

असमानताओं की नींव परिवार के भीतर ही रखी जाती है। माता-पिता वास्तव में उन्हें मजबूत और पोषित करते हैं। अनामिका की कविताएँ भीतर मौजूद दरारों का पता लगाती हैं। अनामिका ने यहाँ अपनी कविताओं के माध्यम से महिलाओं के जीवन की कहानियाँ तथा उनके साथ हुए विभिन्न अन्यायों की कथाओं को बताने का प्रयास किया है।

ये कविताएँ महिलाओं की सामूहिक उपस्थिति के बारे में बताती हैं, जो बिना किसी शिकायत के संघर्ष में लगी हुई हैं। उनके सुख और दुख, उत्साह और अवसाद – सभी जीवन के लिए उनके उत्साह में डूबे हुए हैं। इस लीक में आनेवाली एक और लोकप्रिय कविता 'स्त्रियाँ' है।

"पढ़ा गया हमको
जैसे पढ़ा जाता है काग़ज
बच्चों की फटी कॉपियों का
'चनाजोरगरम' के लिफ़ाफ़े के बनने से पहले!
देखा गया हमको
जैसे कि कुफ्त हो उनींदे
देखी जाती है कलाई घड़ी
अलस्सुबह अलार्म बजने के बाद !
सुना गया हमको
यों ही उड़ते मन से
जैसे सुने जाते हैं फ़िल्मी गाने
सस्ते कैसेटों पर
ठसाठस्स ठुंसी हुई बस में !
भोगा गया हमको
बहुत दूर के रिश्तेदारों के दुख की तरह
एक दिन हमने कहा–

हम भी इंसान हैं
हमें क़ायदे से पढ़ो एक-एक अक्षर
जैसे पढ़ा होगा बी.ए. के बाद
नौकरी का पहला विज्ञापन।"

प्रकाशिकी बदलना

हमें यह समझने की जरूरत है कि अनामिका इन छवियों को अपनी कविताओं में लाकर क्या कर रही है। वह वास्तव में प्रकाशिकी बदल रही है। यह स्त्री दृष्टि है, जो पुरुष दृष्टि से मुक्त है, यह पूरे प्रवचन को एक नई दृष्टि देती है। अनामिका की प्रमुख चिंता लैंगिक रूढ़ियों के बारे में है जो पुरुषों को आक्रामक, मजबूत और शक्तिशाली के रूप में चित्रित करती हैं जबकि महिलाओं को कमजोर, गूंगी गुड़िया के रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

महिलाओं के वर्चस्व की पूरी प्रक्रिया परिवार के भीतर होती है। इन सभी कविताओं में अनामिका महिला नायक के दर्द को साझा करती है और लिंग के आधार पर असमानताओं को रेखांकित करती है। अपने कई निबंधों में उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि हम केवल तभी बराबर हो सकते हैं जब पुरुषों को अधिक मर्दाना नहीं बनाया जाता है और महिलाओं को केवल स्त्री के रूप में पेश नहीं किया जाता है। वह महसूस करती है कि रिश्तों में समानता या संतुलन केवल तभी हो सकता है जब हम क्रोध और इच्छा के इस अधिशेष को खारिज कर दें।

माता-पिता के घर से वैवाहिक तक, एक महिला के लिए बहुत कुछ नहीं बदलता है। इसके विपरीत, उसके वैवाहिक घर में, उसे धूप के रूप में भी संबोधित नहीं किया जा सकता है। पितृसत्ता का शिकंजा मजबूत होता है। इस पितसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में, सबसे दुखद जीवन है "पतिव्रता", जिसे "समर्पित पत्नी" या "पति की महिला" के रूप में विशेषित किया जा सकता है।

शादी करना उसके लिए सम्मान की बात है, लेकिन परिवार में उसकी स्थिति ऐसी है कि वह चुपचाप अपने ऊपर लक्षित गालियों और हिंसा को स्वीकार करने के लिए मजबूर है। जबकि उनके पति को हमेशा विशेषाधिकार प्राप्त स्थिति प्राप्त होती है। अनामिका एक पितृसत्तात्मक घर में पदानुक्रम का वर्णन करने के लिए औपनिवेशिक सामाजिक संरचना की छवि का उपयोग करती है। मैं इस कविता पर विस्तार से चर्चा करना चाहता हूँ, जो शासक और उसके विषयों के बीच एक संरचित संबंध के पैटर्न में समान पुरुष और पत्नी

के बीच जटिल संबंधों की पड़ताल करता है: उदाहरणार्थ "पतिव्रता" कविता कि कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत है :

"जैसे कि अँग्रेज़ी राज में सूरज नहीं डूबा था,
इनके घर में भी लगातार
दकदक करती थी
एक चिलचिलाहट।

स्वामी जहाँ नहीं भी होते थे
होते थे उनके वहाँ पँजे,
मुहर, तौलिए, डण्डे,
स्टैम्प-पेपर, चप्पल-जूते,
हिचकियाँ-डकारें-खर्राटे
और त्यौरियाँ-धमकियाँ-गालियाँ
खचाखच।
घर में घुसते ही
ज़ोर से दहाड़ते थे मालिक और एक ही डाँट पर
एकदम पट्ट
लेट जाती थीं वे
दम साधकर,
जैसे कि भालू के आते ही
लेट गया था
रूसी लोककथा का आदमी
सोचता हुआ कि मर लेते हैं कुछ देर,
मरे हुए को भालू और नहीं मारेगा।"

प्रत्येक महिला लेखक का पितृसत्ता से निपटने का अपना तरीका है। कभी-कभी इस जुड़ाव के आधार पर कोई लेखक को उदारवादी या कट्टरपंथी या ऐसे किसी अन्य नारीवादी टैग के रूप में पा सकता है। हालांकि लेखक खुद इन कठोर सैद्धांतिक प्रतिमानों में किसी की रचनात्मकता की संरचना नहीं कर सकता है। यह कविता एक से अधिक तरीकों से अद्वितीय है। यह पितृसत्तात्मक घर की संरचना की बात करती है। कविता के दूसरे भाग में:

"..गाँधी जी की जीवनी,
सत्याग्रह का कुछ ऐसा प्रभाव हुआ,
बेवजह टिटने के प्रतिकार में वे
लम्बे-लम्बे अनशन रखने लगीं।
चार-पाँच-सात शाम खटतीं वे निराहार
कि कोई आकर मना ले,
फिर एक रात
गिन्न-गिन्न नाचता माथा
पकड़े-पकड़े जा पहुँचतीं वे चौके तक
और धीरे-धीरे खुद काढ़कर
खातीं बासी रोटियाँ
थोड़ा-सा लेकर उधार नमक आँखों का।
तो, सखियो, ऐसा था कलियुग में जीवन
पतिव्रता का...
आगे कथा
सती के ही मुख से
सती की व्यथा।"

इस हिस्से में, महिला विद्रोह को गांधीजी के नमक सत्याग्रह के बराबर बताया गया है, जिसमें अर्थ के क्षितिज

का विस्तार करने के लिए अंतर-लिखित ढांचे में नमक और सत्याग्रह दोनों का उपयोग किया जा रहा है। अधिक दिलचस्प बात तो उसी कविता के तीसरे भाग में हैं।

'नहीं जानती कि ये क्या हो गया है,
गुस्सा नहीं आता।
मन मुलायम रहता है
जैसे कि बरसात के बाद
मिट्टी मुलायम हो जाती है कच्चे-रस्ते की!

काम बहुत रहता है इनको।
ठीक नहीं रहती तबीयत भी।
अब छाती में इतना ज़ोर कहाँ
चिल्लाएँ, झिड़कें या पीटें ही बेचारे!
धीरे-धीरे मैं भी हो ही गई पालतू।
बीमार से रगड़ा क्या, झगड़ा क्या,
मैंने साध ली क्षमा।"

कविता के इस हिस्से को डिकोड करने के लिए जहाँ पत्नी अभी भी प्यार के शब्दों को सुनने के लिए तरस रही है, मैं लाइन को देखता हूं, "मुझे अब माफी में महारत हासिल है"। विद्रोह करना आसान नहीं है, लेकिन क्षमा करने के लिए अधिक साहस की आवश्यकता होती है। पतिव्रता इस कविता के बारे में एक पति के साथ एक महिला है जो एक साथी के रूप में वहां नहीं है। इसके बजाय, अपने पूरे जीवनकाल में। वह एक ऐसा व्यक्ति रहा है जो पितृसत्तात्मक जीवन के कुछ नियमों और उन्हें लागू करने के तरीकों को जानता है, और फिर भी वह उसे माफ करना चुनती है।

एक उपकरण के रूप में बुद्धि

अनामिका की कविताएँ इन रिश्तों की बारीकियों के बारे में हैं जो अन्यायपूर्ण और दमनकारी हैं। साथ ही वे एक महिला के साहस के बारे में भी हैं जो इस अधिकार को चुनौती देती है। उनकी बहुत लोकप्रिय कविताओं में से एक है "दरवाज़ा",प्रस्तुत कविता की प्रतिष्ठित पंक्तियाँ, यों है:-

"मैं एक दरवाज़ा थी
मुझे जितना पीटा गया
मैं उतना ही खुलती गई।"

इस सन्दर्भ में कृष्णा सोबती का एक पाठ भी याद आ रहा है। *ऐ, लड़की ("सुनो बेटी")* इस पुस्तक में एक महिला के जीवन की कथा को यह कहते हुए अभिव्यक्त किया गया है, "एक महिला जब घरेलू जीवन में कदम रखती है तो वह जिस मंथन से गुजरती है, वह भूकंप के झटके से कम नहीं है। पितृसत्ता इस तरह से काम करती है जो एक महिला के आत्मविश्वास को चकनाचूर कर देती है और उसके व्यक्तित्व पर

अंकुश लगाती है।

यदि पति एक अच्छा इंसान है - जैसा कि अनामिका कहती हैं, "पुरुष मरम्मत से परे नहीं हैं" – तो वह एक महिला के जीवन पर बिना किसी अनावश्यक प्रतिबंध या दावों के साथ सौम्य हो सकता है, लेकिन परिवार की परंपरा का सख्ती से पालन करना होगा, महिला की अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं के लिए ज्यादा जगह नहीं छोड़नी होगी।

हो सकता है कि ये कविताएं विरोध के बुलंद स्वर न लगती हों। अनामिका इन संरचनाओं की अस्वीकृति के लिए एक उपकरण के रूप में बुद्धि का उपयोग करती है और एक शक्तिशाली प्रतिरोध के लिए तर्क देती है।

वह एक समानांतर इतिहास प्रस्तुत करती है जब वह महिलाओं की रोजमर्रा की कथाओं को संदर्भित करती है, उन्हें मौखिक और लोक की लंबी परंपरा से जोड़ती है, इसके अंतर्निहित इतिहास को उजागर करती है।

इस कठोर पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था में महिलाओं के जीवन की महान महाकाव्य त्रासदी को व्यक्त करते हुए उनकी कविताओं में बौद्ध धर्मग्रंथियाँ,पड़ोस की चाची और पुरानी परित्यक्त महिलाएँ इस तरह दिखाई देती हैं। उनकी कविताएँ 600 ईसा पूर्व यानी बौद्ध भिक्षुणियों के समय से लेकर वर्तमान समय में सड़कों पर चलने वाली लड़कियों तक की अवधि से परे हैं, चाहे वह युवा यौनकर्मी हों या वे जो अधिक साधनों के साथ लोगों के कपड़े इस्त्री करके जीवन यापन करती हो।

एक कवि के रूप में अनामिका की सहानुभूति उन सभी लोगों के साथ है जो वंचित, हाशिए पर हैं या सिस्टम द्वारा बहकाए गए हैं, जिन्होंने अपनी गरिमा खो दी है या कभी प्यार महसूस नहीं किया है। ये क्लासिक्स के पात्र हो सकते हैं, या वास्तविक दुनिया में सामान्य लोग हो सकते हैं जिन्हें बहुत अकेला कर दिया गया है।अनामिका का नारीवादी रुख केवल पुरुषों और महिलाओं को द्विआधारी विपरीत के रूप में प्रस्तुत करने की एक सरलीकृत रणनीति नहीं है। बल्कि, वह एक चटाई फैलाने में विश्वास करती है – जिसे वह चटाई बिचना कहती है। यह सभी पदानुक्रमों को बाधित करने और एक सर्व-समावेशी दुनिया में एक महिला का पता लगाने के लिए एक रूपक बन जाता है जहाँ वर्ग, जाति और लिंग के अन्य बंधन अर्थहीन हो जाते हैं।

मुक्ति की रणनीतियों की खोज में, अनामिका का दृष्टिकोण बहुस्तरीय है। एक तरफ वह सांस्कृतिक इतिहास को वर्तमान की वास्तविक दुनिया की समस्याओं से जोड़ती है, और दूसरी तरफ वह सार्वभौमिक बहनत्व, एहसास और "खुदी" की खोज करने वाले "आत्म" के दावे के माध्यम से "स्त्री शक्ति" की पहचान करती है । कविता की इस दुनिया का कीवर्ड करुणा है, जैसा कि अनामिका ने आम्रपाली बुद्ध पर अपनी कविता में लिखा है: 'केवल करुणा प्रबल होगी'।

सन्दर्भ

1. पतिव्रता : अनामिका
2. आम्रपाली : अनामिका
3. दरवाज़ा : अनामिका
4. बेजगह : अनामिका
5. स्त्रियाँ : अनामिका
6. कवि कह गया है ,अशोक वाजपेयी ,भारतीय ज्ञानपीठ ,नयी दिल्ली , प्रकाशन वर्ष,2000
7. कविता का थल और काल ,डॉ.ए.अरविंदाक्षन,किताबघर प्रकाशन, नयी दिल्ली,प्रकाशन वर्ष-2001

8.कविता के आर पार,नन्द किशोर नवल ,राजकमल प्रकाशन,नयी दिल्ली , प्रकाशन वर्ष -2012

वैश्वीकरण और नारीवादी कविता

(कात्यायनी के 'सात भाईयों के बीच चम्पा' के विशेष संदर्भ में)

डॉ.दीपक के.आर

सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद्य मिल जाता है- वैसी ही उसकी कृति होती है।(१) बेशक साहित्यकार अपनी युगीन परिस्थितियों से प्रभावित होता है। दूसरे शब्दों में, साहित्य युगीन परिस्थितियों के अनुसार स्वयमेव परिवर्तित होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी का विचार इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।

बीसवीं शताब्दी के अंतिम दौर में भूमण्डलीकरण,वैश्वीकरण,बाज़ारीकरण जैसी परिकल्पनाएँ समाज में तेज़ी से उभरने लगीं। वास्तव में इन परिकल्पनाओं का मूल संबंध अर्थ शास्त्र से था। इस समय संपूर्ण विश्व एक बाज़ार के रूप में परिवर्तित हो गया। कहना न होगा कि इसका असर समाज, संस्कृति और साहित्य पर भी पड़ा। सच्चाई तो यह थी कि इस समय ऐसा कोई क्षेत्र न बचा था जो भूमण्डलीकरण के चंगुल में न फँसा हो। बाज़ारवाद को बढ़ावा देनेवाली इस प्रवृत्ति के कारण मानवीय संबंधों में भी गंभीर परिवर्तन आया। समाज में उपयोगितावाद का दृष्टिकोण सर्वत्र फैलने लगा। इस समय का हिन्दी साहित्य दर असल इन परिवर्तनों की दस्तावेज़ है।

आलोच्य समय के हिंदी साहित्य की

एक अन्य विशेषता है- नए विमर्शों का उदय। हाशिएकृत लोगों ने समाज और साहित्य की मुख्यधारा में प्रवेश करने का प्रयास किया और उन्होंने अपने अनुभवों को वाणी देने की कोशिश की। फलस्वरूप इसके साहित्यकार 'द्रष्टा' के पद से 'भोक्ता' के रूप में परिवर्तित होने लगा। 'भोगा हुआ यथार्थ' , 'अनुभव की प्रामाणिकता' जैसे शब्द साहित्यिक क्षेत्र में व्यवहृत होने लगा। दलित, नारी जैसे शोषित और हाशिएकृत लोगों की अभिव्यक्ति साहित्य में बखूबी होने लगी।

हिन्दी साहित्य में नारी-जीवन का चित्रण युगीन परिस्थितियों के अनुसार ही हुआ है। आदिकाल के रासो काव्यों और विद्यापति की रचनाओं में नारी के भोग्या रूप का चित्रण ही अधिक हुआ है। भक्तिकाल के तुलसीदास जैसे कवियों के विचार में वह 'ताड़ना के अधिकारी' थी। कबीर ने भी नारी रूपी माया से अलग रहने का उपदेश दिया था। किन्तु इस समय की एक उल्लेखनीय घटना साहित्य-क्षेत्र में मीरा की उपस्थिति थी। हिन्दी साहित्य में एक औरत द्वारा अपनी आत्माभिव्यक्ति का प्रयास मीरा की ओर से ही प्रथम बार हुआ था। रीतिकाल में भी अधिकांश कवियों की नज़र में नारी भोग की वस्तु मात्र थी। आधुनिक युग में साहित्यकारों की दृष्टि मुख्यतः सहानुभूति पर आधारित रही। समकालीन साहित्य की एक प्रमुख विशेषता स्वयं नारियों का साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश है। इन लेखिकाओं ने हाशिए पर छोड़ी गई नारियों के जीवन के कई अनछुए पहलुओं को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया। इनकी रचनाओं में चित्रित नारियाँ अपने अधिकारों केलिए संघर्षरत हैं। संक्षेप में, यह बात स्पष्ट है कि समकालीन साहित्य में स्त्री-जीवन के बदलते स्वरूप ही व्यक्त हो रहे हैं।

कात्यायनी की स्त्रीवादी कविताएँ समय और समाज से सीधा संवाद करती है। वैश्वीकरण की विकट एवं पेचीदा परिस्थितियों के कारण स्त्री-पुरुष संबंधों में आए परिवर्तन इन कविताओं के केन्द्र में हैं। नारी-जीवन की समस्याओं को उनकी सारी जडिलताओं और विशेषताओं के साथ चित्रित करने में कात्यायनी को सफलता मिली है। उसकी कविता कभी पहचान की स्थिति को दर्ज करती है तो कभी प्रतिरोध की। समस्याओं के विरुद्ध संघर्ष उसकी कविताओं का अभिन्न अंक है। स्त्री को दबाने की पितृसत्तात्मक समाज की सारी कोशिशों के बावजूद उदित होनेवाली नारी चेतना का ऐलान वह अपनी कविताओं के माध्यम से करना चाहती है।

कात्यायनी की 'सात भाईयों के बीच चम्पा' में पुरुष द्वारा स्त्री के विकास को दबाते रखने की बात व्यक्त हुई है। इसी के साथ कोई-न-कोई रूप में उभरनेवाली नारी चेतना भी व्यक्त हुई है।

रात को बारिश हुई झमड़कर
अगले ही दिन
हर दरवाज़े के बाहर
नागफनी के बीहड़ घेरों के बीच
निर्भय-निस्संग चम्पा
मुस्कुराती पायी गयी।
(सात भाइयों के बीच चम्पा)

नारी का वस्तुकरण वैश्वीकरण के कारण उपजी उपभोगवादी संस्कृति का परिणाम है। पुरुष की नज़र में स्त्री महज देह है। देह संबंधी मान्यताओं के आधार पर ही पुरुष स्त्री का शोषण करता आ रहा है। देह स्त्री-विमर्श का सबसे अहम मुद्दा है । देह या लिंग पर आधारित विभेद को दूर करना ही नारीवाद का मकसद है । इसकेलिए देह की मुक्ति और देह-संबंधित मान्यताओं में परिवर्तन की आवश्यकता है । नारी के संघर्ष में देह-मुक्ति की अहमियत को गीताश्री ने यों व्यक्त किया है, ''स्त्री की बहुआयामी मुक्ति का सवाल तब तक बेमानी है, जब तक उसे देह की मुक्ति नहीं मिलती । सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक इन क्षेत्रों की जो मुक्ति है, वे तो बाद की बातें हैं । मुक्ति की पहली कसौटी 'देह' है।"(२) कात्यायनी स्त्री को महज देह समझने की पुरुष-मानसिकता का विरोध करती है। वह देह संबंधी इस मिथ को अपनी कविताओं के माध्यम से तोड़ना चाहती है । यह मिथ टूट जाने से किस प्रकार का परिवर्तन होता है वह निम्नाखित पंक्तियों में व्यक्त है।

देह नहीं होती है
एक दिन स्त्री
और
उलट-पुलट जाती है
सारी दुनिया
अचानक!
(देह न होना)

'प्रार्थना' नामक कविता में भी स्त्री को महज देह समझनेवाले पुरुष की मानसिकता का चित्रण किया गया है। मनुस्मृति का प्रभाव यहाँ द्रष्टव्य है।

''मुझे पाप करने केलिए
एक औरत दो!"
(प्रार्थना)

हमारे समाज में नैतिकता के उसूल स्त्री और पुरुष केलिए भिन्न-भिन्न हैं। पुरुष द्वारा निर्धारित नैतिक

मान्यताओं में पुरुष केलिए विशेष छूट दी गई है। कात्यायनी अपनी कविताओं के ज़रिए नैतिकता के इस प्रकार के दोहरे मापदण्डों पर तीखा प्रहार करती है। वह पुरुष की कपट नैतिकता का पोल खोलना चाहती है। औरत को मात्र देह समझनेवाला पुरुष एक पागल स्त्री को चौराहे पर नग्न देखकर चकित हो जाता है। उसे उसकी नग्नता से समाज तबाह हो जाने का डर है। इसलिए वह कह रहा है-

'अरे, कोई रोको उसे, दौडो, भागो,
कुछ तो करो, नहीं तो क्या होगा!
तबाह हो जाएगा यह समाज,
भद्रता का कोई नामलेवा
नहीं रह जाएगा'
(शहर को चुनौती)

पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की आज़ादी की परिकल्पना पुरुष द्वारा निर्धारित है। स्त्री की आज़ादी किस हद तक है, इसका फैसला करनेवाला पुरुष होता है। कहना न होगा कि कात्यायनी जैसी सुधी लेखिकाओं केलिए यह स्थिति सर्वथा अस्वीकार्य है। स्त्री स्वतंत्रता संबंधी उसकी परिकल्पना अत्यन्त व्यापक है। कात्यायनी की कविताओं में चित्रित नारी अपने को किसी बंधन में सीमित रखने को तैयार नहीं है। वास्तविकता यह है कि पितृसत्तात्मक समाज के दाँव-पेंच समझनेवाली औरत से समज डरता है। ऐसी स्त्री पितृसत्तात्मक समाज की समझ से परे है। 'इस स्त्री से डरो' कविता के माध्यम से कात्यायनी इन्हीं बातों को व्यक्त करना चाहती है।

जाल के बारे में पूछने पर
गहरे समुद्र में
खो जाने के
सपने के बारे में
बातें करने लगती है।
यन्त्रणागृहों की बात छिड़ते ही
गाने लगती है
प्यार के बारे में
एक गीत।
रहस्यमय हैं इस स्त्री की उलटबासियाँ
इन्हें समझो।
इस स्त्री से डरो।
(इस स्त्री से डरो।)

कात्यायनी की कविता 'हाकी खेलती लड़कियाँ' कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। हाकी के मैदान में लड़कियाँ निश्चिन्त होकर खेल रही हैं, बातें कर रही हैं, सोच रही हैं और वे तरह-तरह के क्रिया-कलाप में जुड़ी हैं। वे किसी के अधीन में नहीं है। रेफ़री की चेतावनी को वे अनदेखा करती है क्योंकि यह ज़िन्दगी नहीं है। विशाल अर्थ में यही स्वतंत्रता है। राकेशकुमार के शब्दों में, "स्त्री स्वतंत्रता का अर्थ है स्त्री की

शोषण से मुक्ति, ताकि वह स्वतंत्र ढंग से जी सके-सोच सके, कर सके। उसके सामने पितृक अनुशासन की दीवारें, श्रृंखलाएँ, जंजीरें न हों। वह पूर्ण स्वाधीन हो। समाज की निर्णायक शक्ति हो। अपने अस्तित्व, अस्मिता के बारे में उसके स्वाधीन विचार हों। अपने स्वत्वाधिकारों के बारे में उसकी सोच स्वतंत्र हो।" (३) नारी चाहती है कि वह अधीनस्थता की स्थिति में न रहे। उसकी असली ज़िन्दगी में तो समय-समय पर रेफरी की भाँति चेतावनी देनेवालों का कोई अभाव नहीं है।

लड़कियाँ फाउल खेल रही है
लड़कियों को चेतावनी दी जा रही है
और वे हँस रही हैं
कि
यह ज़िन्दगी नहीं है
- इस बात से निश्चिन्त हैं लड़कियाँ
हँस रही हैं
रेफरी की चेतावनी पर।
(हाकी खेलती लड़कियाँ)

लेकिन यह एक कटु यथार्थ है कि पितृसत्तत्मक समाज के नियमों को तोड़ना आसान नहीं है। पितृसत्तात्मक समाज के नियमों के उल्लंघन करनेवाली नारी कुलच्छनी कहलाती है। लड़कियाँ स्वतन्त्र हो जाने से पितृसत्तात्मक समाज का सब कुछ उलट-पुलट जाएगा।

अगर ऐसा न हो तो
समय रुक जायेगा
इन्द्र-मरुत-वरुण सब कुपित हो जायेंगे
वज्रपात हो जायेगा, चक्रवात आ जायेगा
घर पर बैठे
देखने आये वर-पक्ष के लोग
पैर पटकते चले जायेंगे
(हाकी खेलती लड़कियाँ)

पुरुष द्वारा दी गई स्वतन्त्रता की परिभाषा एवं उसकी सीमाओं से आज नारी संतृप्त नहीं है। वह आज़ादी की परिभाषा खुद गढ़ना चाहती है। आज आज़ादी ही उसकेलिए सब कुछ है। ऋग्वेद संहिता के अनुसार नारी की सृष्टि इसाए हुई है कि पुरुष अपने पुत्रों से वंश चला सके। किन्तु आज नारी इस भूमिका से नाखुश है। वह आज सोचने लगी है। अपनी अस्मिता की पहचान जब नारी को होती है तब वह यह महसूस करने में देर नहीं लगाती कि आज़ादी ही उसके जीवन का केन्द्रबिन्दु है। इस तरह 'सोचनेवाली नारी' का चित्रण कात्यायनी ने 'वह रचती है जीवन और...' कविता में किया है।

'सोचती है–
जीवन का केन्द्रबिन्दु क्या है
सोचती है–
जीवन का सौन्दर्य क्या है
सोचती है–
वह कौन–सी चीज़ है
जिसके बिना सब कुछ अधूरा है
प्यार भी, सौन्दर्य भी, मातृत्व भी . . .
सोचती है वह
और पूछती है चीख–चीखकर
प्रतिध्वनि गूँजती है
घाटियों में, मैदानों में,
अहाड़ों से, समुद्र की ऊँची लहरों से टकराकर
आज़ादी! आज़ादी! ! आज़ादी! ! !"
(वह रचती है जीवन और . . .)

पुरुष के विचार में स्त्री का कर्मक्षेत्र केवल घर है और घर के अन्दर उसके हर काम पुरुष द्वारा निश्चित है। पुरुष की सेवा करना और बच्चों का पालन पोषण करना ही स्त्री का परम धर्म है। घर से मुक्त होने के बारे में सोचना स्त्री केलिए पाप है। अत: उसे अपने मन को समझाना चाहिए कि वह स्त्री है।

रात–अँधेरे मरद महाजन ड्योढ़ी के भीतर आवेंगे।
ए, मेहारू! क्या बुनती हो?
क्या गुनती हो, क्या धुनती हो ?
इस पागल मन को समझाओ,
उड़ने की बातें करता है।
ए, मेहारू! उड मत जाओ
(ड्योढ़ी भीतर दुपहरिया)

वास्तव में भारतीय परिवारों का स्वरूप पितृसत्तात्मक और स्त्री दमनकारी है। 'भरा पूरा परिवार', 'भरा पूरा जीवन' जैसी परिकल्पनायें स्त्री को अपने नियन्त्रण में रखने के उद्देश्य से पुरुष द्वारा गढ़ी गई हैं। इन परिकल्पनाओं को तोड़े बिना वास्तव में स्त्री की मुक्ति असंभव है। अत: कात्यायनी इन परिकल्पनाओं के खिलाफ शब्दों से वार करती है–

"वहाँ सब कुछ शान्त है
मृत्यु की ओर
स्त्री के प्रस्थान के बाद।
स्त्री पीछे मुड़ती है
प्रचण्ड वेग के साथ।
अपने हाथों आग लगा देती है,
राख कर देती है
वह सब कुछ
जिसे
लोग कहा करते हैं
भरा–पूरा जीवन!
(दाहक जीवन–दाह)

'गार्गी' नामक कविता में भी पुरुष केन्द्रित समाज की नज़र में स्त्री की भूमिका क्या है, व्यक्त हुई है। पुरुष के विचार में नित नई कामयाबियाँ हासिल करने का एक माध्यम अथवा उपकरण मात्र है औरत। कहना न होगा कि बाज़ारवाद ने पुरुष की इस मानसिकता को बढ़ावा दिया है।अपनी सफलता हासिल करने केलिए स्त्री को कभी-कभी दाद देने से हिचकता नहीं है पुरुष। किन्तु तब भी नारी की भूमिका एक माध्यम तक ही सीमित है।

गार्गी तुम देवी हो- जीवनसंगिनी हो
पतिव्रता हो गार्गी तुम
हम अधूरे हैं तुम्हारे बिना
महान बनने में हमारी मदद करो
दुनिया को फतह करने में
आसमान तक चढ़ने में
गार्गी तुम एक रस्सी बनो।
(गार्गी)

पुरुष वर्चस्ववादी समाज को लेकर कोई प्रश्न करने का अधिकार स्त्री को नहीं है। सामाजिक नियमों की सृष्टि करनेवाले पुरुषों ने स्त्री की हर भूमिका को निश्चित कर रखा है उस सीमा से आगे जाने का अधिकार स्त्री को नहीं है। पितृसत्तात्मक समाज हर हालत में नारी की अधीनस्थता की स्थिति बरकरार रखना चाहती है। इसकेलिए वह कभी दाद देता है तो कभी चेतावनी और धमकी भी।

मत जाओ गार्गी प्रश्नों की सीमा से आगे
तुम्हारा सिर कटकर लुढ़केगा ज़मीन पर,
मत करो याज्ञवल्क्यों की अवमानना,
मत उठाओ प्रश्न ब्रह्मसत्ता पर,
वह पुरुष है!
(गार्गी)

पुरुष द्वारा थोपी गई मान्यताओं का अन्धानुसरण करने केलिए आज नारी तैयार नहीं है। कात्यायनी की कविताएँ इन स्त्री-विरुद्ध मान्यताओं के खिलाफ सख्त विरोध प्रकट करती है। मनु के अनुसार ईश्वर ने नारी को रचते समय उसे बिस्तर, घर, जेवर, अपवित्र इच्छाएँ, ईर्ष्या, बेईमानी, और दुर्व्यवहार, दिया। किन्तु परम्परा के नाम पर इन मनुवादी दर्शनों को स्वीकार करने केलिए नारी कदापि तैयार नहीं हुई। वह उन प्राचीन रूढियों के खिलाफ आज भी संघर्षरत है, जो उसके विकास केलिए बाधक हैं और इस संघर्ष में वह अपराजिता रही है। भारतीय स्त्री-जीवन को बदत्तर एवं जड़िल बनाने में मनुस्मृति की भूमिका का कोई ठिकाना नहीं है। मनुस्मृति की इन स्त्री-विरोधी मान्यताओं की पहचान और उनके

खिलाफ सख्त विद्रोह वास्तव में वर्तमान नारीवादी कविता के अभिन्न अंक हैं।

''पर नहीं कर सके पराजित वे
हमारी अजेय आत्मा को
उनके उत्तराधिकारी
और फिर उनके उत्तराधिकारियों के उत्तराधिकारी भी
नहीं पराजित कर सके जिस तरह
मानवता की अमर-अजेय आत्मा को,
उसी तरह नहीं पराजित कर सके वे
हमारी अजेय आत्मा को
आज भी वह संघर्षरत है
नित-निरन्तर
उनके साथ
जिनके पास खोने को सिर्फ जंजीरें ही हैं
बिलकुल हमारी ही तरह।"
(अपराजिता)

समकालीन नारीवादी लेखिकाएँ पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्थापित साहित्यिक मान्यताओं और मूल्यों पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं। कात्यायनी जैसी लेखिकाएं इन पितृसत्तात्मक साहित्यिक मूल्यों के स्थान पर नई साहित्यिक मान्यतायें स्थापित करना चाहती हैं जो स्त्री विरोधी न हो। उनके विचार में स्त्री के यथार्थ को चित्रित करने में कवि या पुरुष लेखक दर असल असमर्थ है।

'कवि की नज़र में
चढ़ गयी स्त्री।
एक-एक कविता में उतर गयी स्त्री
ऐसे तो कवि से
डर ही गयी स्त्री।
(कवि से डर गयी स्त्री)

नारीवादी कविता भाषा के क्षेत्र में भी परिवर्तन की माँग करती है। क्योंकि अब तक साहित्य में प्रयुक्त भाषा तो पितृसत्तत्मक समाज द्वारा निर्मित है। स्त्री की संवेदनाएँ स्त्री-भाषा में ही व्यक्त हो सकती है। इसलिए कात्यायनी जैसी लेखिकाएँ नई भाषा गढ़ना चाहती है। इसकेलिए प्रचात भाषा को तोड़ना आवश्यक बन जाता है। राकेश कुमार के शब्दों में, "नारीवाद की समर्थक लेखिकाओं ने ही लिंग केंद्रिक (फेलोसेण्ट्रिक) वर्चस्व, प्रभुत्व को चुनौती दी है, पितृसत्तात्मक नैतिकताओं को छिन्न-भिन्न किया है, उन प्रतिमानों की पड़ताल की है जो पितृक, यानी स्त्री विरोधी हैं तथा इसांग भेद पर आधारित भाषा को तोड़कर नई भाषा भी गढ़ने की चेष्टा की है।"(४) कहना न होगा कि स्त्री की यह प्रवृत्ति से पितृसत्तामक समाज काफी अफसोस है। 'भषा में छिप जाना स्त्री का' कविता में यही तथ्य स्पष्ट हुआ है। एक दिन स्त्री खेल-खेल में भागती हुई भाषा में समा

जाती है, छिपकर बैठ जाती है। कात्यायनी के शब्दों में ,

खेल-खेल में भागती हुई
भाषा में समा गयी
छिपकर बैठ गयी।
उस दिन
तानाशाहों को
नींद नहीं आयी रात भर।
उस दिन
खेल न सके कविगण
अग्निपिण्ड के मानिंद तपते शब्दों से।
(भषा में छिप जाना स्त्री का)

स्त्री की भावात्मक एकान्तता उसकी सबसे बड़ी समस्याओं में से एक है। भीड़-भाड़ और दौड़-धूप भरी ज़िन्दगी में भी भावात्मक एकान्तता का अनुभव करनेवाली नारी की छवि भी कात्यायनी की नज़रों से ओझल नहीं है। किन्तु कात्यायनी की कविताओं में चित्रित स्त्री इस एकान्तता को भी अपनी ताकत बनाना चाहती है।

''चैन का एक साँस लेने केलिए
स्त्री
अपने एकान्त को बुलाती है।
एकान्त को छूती है स्त्री
संवाद करती है उससे।
जीती है,
पीती है उसको चुपचाप।
(स्त्री का सोचना एकान्त में)

अपनी अस्मिता और अस्तित्व की पहचान स्त्री को होना चाहिए। स्त्री को पितृसत्तत्मक समाज द्वारा निर्मित उसके तथाकथित छवि से मुक्त होना चाहिए, यही उसकी मुक्ति की कुंजी हो सकती है। इसके बगैर उसका भला संभव नहीं है।

हे ईश्वर!
मुझे ऐसी औरत क्यों नहीं दी
जिसका कुछ तो भला किया जा सकता!
यह औरत तो बस भात राँध सकती है
और बच्चे जन सकती है
इसे भला कैसे मुक्त किया जा सकता है?
(नहीं हो सकता तेरा भला)

स्त्री-विद्रोह और अस्मिता की पहचान के साथ अटूट संबंध है। मृत्यु में ही मुक्ति देखनेवाली औरत जब एक दिन मृत्यु द्वार में प्रवेश करने से पूर्व मुडकर देखती है तो समझ जाती है कि उसकी मृत्यु के बाद भी समाज और परिवार में सब कुछ वैसा ही तैसा है। जिसे लोग भरा-पूरा जीवन कहते थे दर असल बह एक मिथ था। स्त्री अगर मुक्ति चाहती है तो उसे इस मिथ को तोड़ना होगा।

निस्सन्देह हम एक कठिन समय से गुज़र रहे हैं। भूमण्डलीकरण और बाज़ारवाद के समर्थकों का दावा यही है कि हमारे सामने और कोई विकल्प नहीं है। मनुष्य को और मानवीय संबंधों को उपयोगितावादी दृष्टि से आँकनेवाली इस प्रवृत्ति को हमें स्वीकार करना ही होगा। किन्तु इसे स्वीकार करने का अर्थ है, मानवीय संवेदनाओं को हमेशा केलिए नष्ट करना। अत: इसके विरुद्ध संघर्ष ही जीवन है। कात्यायनी अपना काव्य संग्रह 'सात भाईयों के बीच चम्पा' उन लोगों को समर्पित करती है उन लोगों को समर्पित करके योंखती है- ''धारा के विरुद्ध तैरते उन तमाम लोगों को जिन्होंने इस अँधेरे दौर में भी न सपने देखने की आदत छोड़ी है और न लड़ने की"। वास्तव में वह अपनी कविताओं के ज़रिए यही करना चाहती है- संघर्ष! और कहना न होगा कि यही इस पेचीदा समय से बचने का एकमात्र उपाय है।

सन्दर्भ

१. गुलाबराय, काव्य के रूप, पृ-१२

२. गीताश्री, स्त्री आकांक्षा के मानचित्र, पृ-८३

३. राकेश कुमार, नारीवादी विमर्श, पृ-५३-५४

४. वही, पृ-९

भूमंडलीकरण के ज़माने में बाज़ार से घबराए हुए शब्द

डॉ इन्द्रू के. वी.
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग,केरल विश्वविद्यालय

इसलिए लोगों
मेरी कविता हर उस इंसान का
बयान है
जो बंदूकों के गोदाम से
अनाज की ख्वाहिश रखता है
मेरी कविता
हर उस आँख की दरखास्त है
जिसमें आंसू है [1].

साम्राज्यवाद एक नयी बात नहीं बल्कि बरसों से दुनिया में कायम हैं लेकिन ज़माने के पलटने के साथ वह अपना सूरत और औज़ार बदल देता है। नव उपनिवेशवादी दौर में इस नव साम्राज्यवाद का लक्ष्य पूरे विश्व पर अपना अधीशत्व स्थापित करना है।

इसी प्रक्रिया का नाम है भूमंडलीकरण। नव साम्राज्यवादी सम्पूर्ण विश्व को एक बाज़ार बनाकर इस विश्व बाज़ार को अपने कब्जे पर रखना चाहते है। इसका सबसे बड़ा आक्रमण संस्कृति पर है। हर एक देश की अपनी पृथक संस्कृति हैं, वही उस देश की अस्मिता होती है। इन संस्कृतियों को नामोनिशान कर उसके स्थान पर एक थोंपी हुयी संस्कृति की प्रतिष्ठा करना एक प्रकार का षड्यंत्र है।

सांस्कृतिक एकता और इसका वैश्विक परिदृश्य बुरी बात तो नहीं है लेकिन इसके नाम पर एक अप संस्कृति का निर्माण करना तो एक षड्यंत्र ही है जिसका प्रतिरोध करना अत्यंत

" टूथपेस्ट और ब्लेड को छोड़कर वहां आवश्यक है। पुष्पपाल सिंह के अनुसार "भारतीय संस्कृति का चरित्र सदैव से सर्वग्राही तथा सर्व समावेशी रहा है, सदियों से आते अनेक आक्रान्ता अपने साथ जिस सांस्कृतिक विरासत को लेकर आते रहे, वह भारतीय संस्कृति के सागर में समाकर एकमेक होती रही। किन्तु आज एक मुख्य अंतर यह आया कि हमारे पैर इस भूमंडलीय आंधी में टिक नहीं पा रहे हैं।"[2] भूमंडलीकरण के साथ प्रौद्योगिकी और तकनीक की अभूतपूर्व प्रगति, सूचना क्रांति का तीव्र विस्फोट, कम्प्यूटर और मोबाइल के क्षेत्र में अपूर्व क्रांतिकारी परिवर्तनों विज्ञापन के मायावी जगत से प्रोत्साहित उपभोक्तावाद, विपणन- प्रबंधन की नित नयी युक्तियों ने हमारे समाज के आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक परिवेश पूरी तरह बदलकर रख दिया है।

भूमंडलीकरण के तहद निर्मित की गयी उपभोक्तावादी संस्कृति मानव को मानव के रूप में नहीं देखता। उपभोक्तावाद में हर एक आम आदमी एक उपभोक्ता मात्र है। वे इस उपभोक्ता से जितना हो सके उतना लाभ लेने का गूढ़ तंत्र रचता है। उस लाभ मोह में उपभोक्ता के जीवन और स्वास्थ्य का स्टेटस बना लिया है। बड़े अभिमान के कोई मूल्य नहीं है। किसी भी प्रकार का मूल्य नहीं केवल लाभ मोह इसके पीछे है। इसकेलिए वे हर एक परिवेश के इंसान को उनकी परिवेशगत संस्कृति और सुविधाओं से अलग कर उन्हें एक विशेष संस्कृति को अपनाने के लिए मजबूर कराता है। अधिकांश लोग अनजाने में या मजबूर होकर तथा कुछ लोग जानबूझकर इसे स्वीकार करते है। विज्ञापन के चकाचौंध ने सम्पूर्ण दुनिया को अपने पकड़ में रखा है। इससे मुक्ति पाना अत्यंत कठिन कार्य बन गया है। इस मायालोक के यथार्थ को जनता के सम्मुख प्रस्तुत करना और सांस्कृतिक पंजों से लोगों को मुक्ति दिलाना साहित्य का दायित्व बन गया है।

ऐसी परिस्थिति में समकालीन कवि कविताओं के ज़रिये सांस्कृतिक प्रतिरोध का अप्रतिम प्रयत्न कर रहे है। 'दूबधान' काव्य संकलन के वक्तव्य में अनामिका कहती है –"इस उत्तर-आधुनिक परिदृश्य में कविता की स्थिति डाक में खोयी उस चिट्ठी की सी है जो चाहती है कहीं पहूंचना, पर पहुँच नहीं पाती। इस कठिन समय में जब समय से स्थान, देह से मन, समष्टि से व्यष्टि विच्छिन्न हो चला है(नाभिकीय नाल की) उनकी आपसी पकड़ छूट गयी है और 'आकाश से धरती की बंद है

बातचीत'- कविता चाहती है, संवाद आत्मा का आत्मा से प्रिय का प्रिय से, कटु का मधु से, कल्पना का यथार्थ से, शिल्प का कथ्य से, इन्द्रियों का इन्द्रियों से, सुख का दुःख से, रूप का अरूप से, भाव का रस से, अतीत का वर्तमान से, परम्परा का प्रयोग से- मनुष्य का मनुष्य से।"[3] कविता हमेशा संवाद चाहती है, लेकिन वर्तमानकालीन माया प्रपंच में ये सब कहाँ तक संभव है यही एकमात्र शंका है।

बाजारवाद के मायाजाल से भारतीय समाज को सुरक्षित रखने की कोशिश इसप्रकार समकालीन कवियों की कविता में देखने को मिलती है। लीलाधर जगूड़ी जैसे कवि बाजारवाद को सही मायने में दर्ज करने मे सफल सिद्ध हुए है। ओम निश्चल के अनुसार "बाज़ार और अर्थशास्त्र तथा बाज़ार और समाजशास्त्र के बीच लीलाधर जगूड़ी कविताओं की सीधी और कहीं कहीं सांकेतिक आवाजाही सब कवियों से भिन्न तरह की है। प्रेम में प्रवेश को वे प्रेम में निवेश मानते है। जगूड़ी की आज की कविताओं को मुक्तिबोध, धूमिल अथवा अज्ञेय और रघुवीर सहाय की कविताओं जैसा नहीं समझ और व्याख्यायित किया जा सकता है। उनकी कविताओं का संसार और उस संसार की चिंताएं बिलकुल अलग तरह की है। उनकी कविताओं से ही उनके अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार की व्याख्या के सूत्र निकाले जा सकते है, आज उन्हीं के यहाँ अपनी सरस्वती की अंदरूनी खबर ली जा रही है। लीलाधर जगूड़ी इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कविता का एक आधुनिक मोड़ है। उनमें हर बार एक नयी छलांग, एक नया अत्मोल्लन्घन दिखाई देता है।"[4] लीलाधर जगूड़ी के 'भय भी शक्ति देता है' काव्य संग्रह की कवितायेँ बाजारवाद और भूमंडलीकरण की शुरुआती चर्चाओं पर लिखी गयी थी। विज्ञापन की राजनीति के बारे में लीलाधर जगूड़ी लिखता है-

"किसी राष्ट्राध्यक्ष का परवर्ती
वह दूरवर्ती लेकिन लक्ष्य में
लिए जा चुके एक भौगोलिक
ऐतिहासिक और सांस्कृतिक
देश की ओर से इस तरह बोलता है
जैसे ज़मीनी, आसमानी और
समुद्री राष्ट्रीयताएँ और
अपनी सुविधाएँ है
जो सुविधाएँ है उनमें से
एक यह हूँ कि
हथियारों के सोच में
मातृभूमी के साथ नैतिक संबंध
कैसे रह सकते है?"[5]

समकालीन अन्य कवियों से ज्यादा बाजार और अर्थशास्त्र, बाजार और समाजशास्त्र और के संबंध में लीलाधर जगूड़ी ने कुछ ज्यादा ही सोचे है। समकालीन बाजारू समय में किसी भी चीज़ के प्रति किसी का भी नैतिक संबंध नहीं है वह परिवार हो या राष्ट्र। भूमंडलीकरण के कारण कुछ सालों से तकनीकी क्षेत्र में त्वरित गति से विकास हुआ है। संचार माध्यमों ने विभिन्न देशों के बीच के आदान प्रदान को काफी सरल बना दिया है जिससे विकसित राष्ट्रों को बड़ा लाभ है लेकिन भारत जैसे विकासशील राष्ट्रों में इसका दुष्परिणाम आम आदमी को भुगतना पड़ता है। आर्थिक उदारीकरण को अपनाए बिना कोई भी देश वैश्वीरण से जुड़ नहीं सकता। सभी देशों के लिए बाज़ार ही सब कुछ बन गया है। अपनी 'विज्ञापन सुन्दरी' नामक कविता में जगूड़ी लिखता है-

"यह तो बाज़ार है जिसे अपने विज्ञापन के लिए

विश्वसुंदरी की भी ज़रूरत है

वरना विश्वसुंदरी की भी क्या ज़रूरत है

विज्ञापन सुंदरी द्वारा प्रस्तुत करने योग्य जीवन में

कितने अनुपयोगी और कितने अदर्शनीय हैं हम

हमारे अप्रस्तुत जीवन में हर वक्त प्रस्तुत हैं।

गोबर थापती, उपले पाथती ग़रीब गबरू औरतें

उत्पीड़ित कमाऊ बच्चों की अस्थायी नींद और स्थायी बीमारियाँ

जो सफल और सभ्य समाज में

साबुन, पाउडर, क्रीम और हिंसक खिलौनों में बदल जाती हैं

जिन्हें पुरानी स्त्री के मैल से पैदा नयी स्त्रियाँ बेंचती हैं

क्योंकि नयी स्त्रियाँ ही आर्थिक स्त्रियाँ मान ली गयी हैं

इनका विवेक प्रायोजित विवेक है। "[6]

भूमंडलीकरण विभिन्न देशों के बीच की अर्थ व्यवस्था में परिवर्तन लाते हैं साथ ही देश के लोगों के सोच व्यवहार में परिवर्तन लाते हैं। लोगों को पुराने विचारों से नए विचार में परिवर्तित करता ज़रूरी है लेकिन यह नया विचार हर कहीं एक जैसा है क्योंकि यह विचार वास्तविक विवेक से उत्पन्न नहीं बल्कि प्रायोजित विवेक है। किसी मल्टी नेशनल कम्पनी के प्रयोजन के लिए ही यह लोगों में एक समान बदलाव लाते है। विज्ञापनों ने न केवल सतही लोकरुचि के निर्माण में

दिलचस्पी ली बाल्कि एक रणनीति के रूप में इसे प्रतिष्ठित करने की कोशिश की। समाज के सबसे गरीब आदमी पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़ा। आम लोगों के नाम पर सरकार अनेक योजनायें लाते है। लेकिन समय समय पर चलाए गए आर्थिक कार्यक्रमों का कोई बड़ा प्रभाव देश के गरीबों पर नहीं पड़ा। गरीबी हटाओ का नारा बुलंद था लेकिन गरीबी को हटा नहीं सका। धीरे धीरे गरीबी ही बीमारी का रूप लेती गयीऔर गरीब को यह लगने लगा कि जिस बीमारी से वह ग्रस्त है, उसका नाम गरीबी है और उसे डाक़्टर नहीं मिटा सकते। गरीबी हटाने के लिए आम आदमी के नाम पर सरकार कर्ज लेते गए अनेक कार्यक्रम चलते रहे। देश पर लदे कर्ज का हिसाब यह है कि तमाम सामाजिक आर्थिक और शैक्षिक परियोजनाएं विश्व बैंक के अनुदान से चलायी जा रही हैं-

"वे चुपचाप हर चीज़ में घुस गए
पहाड़ में, रेत में, खेत में और अभिप्रेत में
वे घास और काई की तरह
स्वाभाविक लगने के बजाय
जंग की तरह स्वाभाविक लग रहे थे"[7]

'कर्ज के बाद नींद' कविता में आधुनिक अर्थतंत्र की आवाज सुन पड़ती है। शहरों में रोज अनेक लोगों की भीड़ देख सकते हैं जिनके पास खोने को कुछ भी नहीं है और उन्हें कुछ पाना भी एक दु:स्वप्न है। कवि को वह घबराए हुए शब्द की तरह लगता है। क़्या हमें ऐसे चेहरे अक़्सर नहीं दिखाई देते जो होते हुए भी गुमशुदा जैसे हैं। आजादी के इतने सालो बाद भी हम इन्हें वह सम्मानजनक पहचान और अस्तित्व नहीं दे पाए हैं जिनके ये हकदार है-

"मेरी कविता हर उस इंसान का बयान है
जो बंदूकों के गोदाम से अनाज की ख्वाहिश रखता है
मेरी कविता हर उस आँसू की दरख्वास्त है
जिसमें आँसू हैं"[8]

वर्तमान बाज़ारवादी युग में सभी का नियंत्रण मल्टी नेशनल कंपनियों के कब्जे में हैं। कवि चेतावनी देते रहे अब भी वे अपना कविकर्म निभा रहे है किन्तु कौन सुनता है। सत्ता और प्रशासन मूक और काना नहीं है लेकिन सुनता है सिर्फ कोर्पोरेट एजेंटों का और बोलता भी उनकेलिए। विकास के नाम पर प्रकृति का शोषण करके आम आदमी का जीवन दूभर करके बड़े बड़े मकानों, हवाई अड्डों और सडकों का निर्माण कर

रहे है लेकिन इससे आम मानव का क्या मतलब। फिर भी कवि अपने कर्म से पीछे नहीं हटता-

"अपनी छोटी और अंतिम
कविता के लिए
मुझमें जो थोड़ा सा रक़्त शेष है
मैं कोशिश करूँगा वह दौड़ कर
शब्द के उस अंग को जीवित कर दे
जो भाषा की हवा से मर गया है"[9]

■

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

1. लीलाधर जगूड़ी-घबराए हुए शब्द
2. पुष्पपाल सिंह- भूमंडलीकरण और हिन्दी उपन्यास पृ सं.-15
3. अनामिका-दूबधान –वक्तव्य से
4. ओम निश्चल, अनुभव के आकाश में कविता, पर्वत राग(सं), गुरमीत बेदी, अंक -7, पृ. सं -35)
5. लीलाधर जगूड़ी – खबर का मुंह विज्ञपन ढका है, पृ सं –34
6. लीलाधर जगूड़ी, विज्ञापन सुन्दरी, desharyana
7. लीलाधर जगूड़ी- कर्ज के बाद नींद, पृ. सं.-22
8. लीलाधर जगूड़ी, इस यात्रा में पृ.सं.-10

भूमंडलीकरण के दौर की दार्शनिक काव्य यात्रा

डॉ. हेरमन पी जे
सह आचार्य, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

हम देखते हैं कि समकालीन कविता और समकालीन कवि सामान्य जनता से हटकर अपनी आंखें खोल कर समाज को देखते हैं। समाज को परखते हैं, और समाज में दिखने वाली प्रत्येक घटनाएँ और बदलाव जो हैं, उस बदलाव को शब्द-बद्ध करते हुए, इन तमाम नकारात्मक सामाजिक बदलाव के प्रति हस्तक्षेप करते हैं। इन तमाम परिवर्तनों ने मानव को किस प्रकार इस नव संदेहास्पद दुनिया में गिरा दिया है, इस प्रक्रिया का सैद्धांतिक विश्लेषण और इन तमाम समस्याओं का कारण कुमार अंबुज जी की इस दार्शनिक काव्य यात्रा में स्पष्ट होता है। विकास के नाम पर की जाने वाली प्रत्येक गतिविधियों के परिणामस्वरूप सामान्य मानव किन किन दबावों से गुज़रता है इसका प्रमाण भी अंबुज जी यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

वैश्वीकरण और भूमंडलीकरण के बहाने बीसवीं सदी के अंतिम दशक से ही दुनिया में उदारवाद, उपभोक्तावाद और बाजारवाद ने धीरे-धीरे अपना पैर पसारना आरंभ कर दिया था। वैश्वीकरण ने भारत के आर्थिक और सामाजिक ढांचे को पूर्णरूप से बदल दिया लेकिन समय के साथ-साथ इन बदलावों से मानव जीवन में भी काफी परिवर्तन दिखने लगे। आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण ने एक प्रकार से एक नई पूंजीवाद को जन्म दिया। वास्तव में यह जनता के लिए हितकर नहीं रहा। दरअसल इन पूंजीवादियों के लिए शासन करने वाले शासक याने सरकार को अपनी नीतियों

में बदलाव लाना पड़ा। एक प्रकार से इन पूंजीवादियों के हित में ही नई नीतियाँ बनायी गयीं और बनायी जा रही हैं। किसी भी राष्ट्र में शासकों द्वारा सुनिश्चित किए जाने वाले आधारभूत दायित्व जैसे स्वास्थ्य,भोजन और शिक्षा आदि आगे चलकर आदमी की व्यक्तिगत जिम्मेदारी रहेगी।सामान्य जनता से संबंधित और उनसे जुडी यह जिम्मेदारी आज शासकों या सत्ताधारी के नारों में रह कर मात्र आम व्यक्ति का नारा बन गया है। वर्तमान साहित्यकार ने अपनी रचना के जरिए इन हालातों की आलोचना करने की हिम्मत दिखायी है। इस प्रकार हिम्मत दिखाने वाले कई रचनाकार हमारे जमाने में हैं। कविता के रूप में, कथा के रूप में, कहानी के रूप में, उपन्यास के रूप में, नाट्कों के रूप में रचनाकार अपनी आवाज़ और प्रतिरोध जो हैं रचनाओं के जरिए प्रस्तुत करने लगे। भूमंडलीकरण का यदि गंभीरता से थोड़ा नज़दीक से निरीक्षण करें, तो हमें पता चलेगा कि यह भूमंडलीकरण अमेरिकी पूंजीवाद का बिल्कुल उग्र रूप है। भूमंडलीकरण के इस उग्र रूप ने प्रकृति के तत्वों से खेलना शुरू किया था। परिणामस्वरूप आजकल मानव समाज के लिए बहुत बड़ा खतरा बन गया है। पिछले कई सालों की गतिविधि देखी जाए तो यह स्पष्ट दिखता है कि अमेरिका ने पूरे विश्व को अपनी मुट्ठी में कर दिया है।

समाज के हर तबके में भूमंडलीकरण और बाजारवाद का प्रभाव मजबूत होता जा रहा है। वास्तव में समाज केवल एक उपभोक्ता समाज बनकर रह गया है। व्यक्ति और व्यक्ति के बीच, वस्तु और वस्तुओं के बीच किसी तरह का संबंध बिलकुल नहीं रह गया है। मनुष्यता और मानव जीवन के लिए यह परिवर्तन बहुत बड़ी समस्या बन गयी हैं। मानव द्वारा पर्यावरण को मुनाफे की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति को देखकर प्रत्येक रचनाकार चिंतित हो जाते हैं। और वर्तमान कवि अपने चिंतन और आशंकाओं को शब्दबद्ध करते हुए समाज और प्रत्येक पाठक को सचेत करना चाहते हैं। वर्तमान काल के कवि जो हैं पथ दर्शक होता है, वे हमें पथ दर्शाना चाहते हैं । क्योंकि हम एक विचलित पथ में भ्रमण कर रहे हैं। हम प्रतीत यथार्थ के युग में जी रहे हैं। जो आंखों के सामने दिखता है वह वास्तव में हकीकत नहीं है, तो इस संदेहास्पद दुनिया में जाग्रता जगाना, हमें सही मार्ग दिखाना इन कवियों का कर्तव्य बन गया है। इस दृष्टि से कुमार अंबुज जी अपनी एकाध कुछ कविताओं के जरिए बिलकुल एक भिन्न ढ़ंग सी ऐसी दार्शनिक काव्य यात्रा कर रहे हैं, जिससे

कि पाठक सही मार्ग पर विचरण कर सके। हमारी आंखों के सामने जो हकीकत हैं उन हकीकतों को सही मायने में पहचान पाएँ। उनका पहला काव्य संग्रह 1992 में प्रकाशित हुआ था। उस काव्य संग्रह में 'गुफा' नाम की कविता है। इस कविता में कवि कहते हैं कि हमारे जीवन में कई प्रकार के विचार उभर आते हैं लेकिन आज इस भूमंडलीकरण के दौर में हम भय और अंधेरे से एक प्रकार से भयभीत जीवन जी रहे हैं। प्रत्येक मानव वर्तमान समय में अंधेरे में ही जिया जा रहा है। प्रत्येक के मन में इस अंधेरे को भेदने की इच्छा तो है, लेकिन हालात ने उन्हें एक प्रकार के संदेहास्पद दुनिया में धकेल दिया है। यह जरूरी नहीं है कि अंधेरे को भेदने की इस प्रक्रिया में वे सफल हो जाएँ। हमारा जीवन वास्तव में इसी भय और अंधेरे से भरे समाज में ही प्रारंभ होता है। हम पहचानते कि इस भय और अंधेरे को भेदने की आवश्यकता है, और इस अंधेरे और भय को भेदने की इच्छा से ही हम अपने जीवन में आगे बढ़ते हैं। यहीं से सब कुछ शुरू होता है,जीवन का हर संघर्ष वास्तव में इसी अंधकार को दूर करके आगे बढ़ने का संघर्ष या जीवन यात्रा ही है। चाहते हुए भी हम सब इस संघर्ष में ही सदा जी रहे हैं। इसलिए कवि कहते हैं, जैसे

शुरू होता है यहाँ से
भय और अँधेरा
भय और अँधेरे को
भेदने की इच्छा भी
शुरू होती है
यहीं से।

जब हम गांव में रहते थे शांत और आनंदमय जीवन बिता रहे थे। लेकिन जब गांव से नगर में आए इस प्रकार के भय और संदेह हमारे जीवन में आने लगे। क्योंकि एक जरा सी देर में सब कुछ बदल गया है। गांव से निकलकर नगर में आने पर सब कुछ बदल गए हैं। इसलिए कवि कहते हैं कि गांव की सुनहरी यादें जो हैं सब गायब हो चुकी हैं, जरा सी देर में गांव से बाहर आकर नगर में आया और जिस लड़की से प्यार किया वह लड़की जो है नगर में आकर लिपस्टिक की दुनिया में गायब हो गई। गाँव की लड़की की लिपस्टिक की दुनिया में गायब होना सरल बात नहीं है। बाज़ारवाद ने किस ढंग से प्रत्येक व्यक्ति को घेर लिया इस की भीषणता हम पहचान नहीं पाए हैं। एशियन बाज़ार में कॉस्मेटिक सामग्री की सबसे बड़ी बिक्री भारत में होती है। गांव से नगर में आनेवाले प्रत्येक मानव में आमूलचूल परिवर्तन आए हैं । इन तमाम परिवर्तनों ने मानव को किस

प्रकार इस नव संदेहास्पद दुनिया में गिरा दिया है, इस प्रक्रिया का सैद्धांतिक विश्लेषण और इन तमाम समस्याओं का कारण कुमार अंबुज जी की इस दार्शनिक काव्य यात्रा में स्पष्ट होता है। विकास के नाम पर की जाने वाली प्रत्येक गतिविधियों के परिणामस्वरूप सामान्य मानव किन किन दबावों से गुज़रता है इसका प्रमाण भी अंबुज जी यहाँ प्रस्तुत करते हैं। लिप्स्टिक की दुनिया में गायब होने वाली लड़की और पंखे में झूलने वाली लड़की के बीच ज़्यादा दूर नहीं है। जीवन के अंतिम पड़ाव में हम थक जाते हैं। इस थकान में और गहरी नींद की स्थिति में कवि हमें सचेत करते हुए कहते हैं कि समय आ गया है, जागने का और काम करने का। वर्तमान संदेहास्पद दुनिया की समस्याओं को पार करने हेतु हमें एक साथ मिलकर काम करना होगा। कुमार अंबुज जी की 'ज़रा सी देर में' नामक कविता में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

ज़रा-सी देर में बड़ा हो गया मैं
और गाँव के सिवान से बाहर निकल आया
शहर की लड़की से प्यार किया
और ज़रा-सी देर में वह लड़की
लिपस्टिक की दुनिया में गायब हो गईएक हवाई जहाज़ पक्षी की तरह गिर पड़ा
खिलौने की तरह लुढ़क गई रेलगाड़ी
ज़रा-सी ही देर में लड़की झूल गई पंखे पर
और टूट गए
मज़बूत दिखने वाले पिता के कन्धे
थके आदमी की गहरी नींद में
बस ज़रा-सी देर में चिड़िएँ बोलने लगीं
'उठो, काम का वक्त हो गया!'

काफी मजबूत शब्दों में कवि हमें सचेत करना चाहते हैं, कि अब सही वक्त आ गया है। उठने का, जागने का और जागरूक होने का। क्यों कि इस नव संदेहास्पद दुनिया में जीवन की जंजीरों को हम पहचान नहीं पा रहे हैं। इन जंजीरों को हमारे जीवन में इतने निकट और इस ढंग से प्रदर्शित किया गया है कि यह हमारे शरीर के आभूषण हैं। भूमंडलीकरण के दौर में ये जो जंजीरें हैं हमारे जीवन में एक अनिवार्यवस्तु के रूप में तब्दील होकर जीवन में एकदम मिलजुल गई हैं। इस प्रतिष्ठा के कारण हम पहचान नहीं पा रहे कि यह जंजीर है या आभूषण। इन जंजीरों को कुछ लोगों ने आभूषण की तरह अपना लिया है। जिन लोगों ने जंजीर को आभूषण की तरह अपना लिया है, उन लोगों को हम दोषी नहीं बता सकते हैं। क्योंकि सबसे रोचक बात यही थी कि इन जंजीरों को काटने के सैद्धांतिक तरीके बच्चों के पाठ्यक्रम में शामिल किए गए थे।

लेकिन उसी के साथ-साथ बच्चों के पाठ्यक्रम में जंजीरों के साथ जीने की कला संबंधी बातें भी मौजूद थीं। जंजीरों के साथ किस प्रकार जिया जाए इससे संबंधित कला पर लिखी गयी या इससे संबंधित किताब प्रबंधन के तहत स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में शामिल थे।'जंजीर' नामक कविता की पंक्तियों में वर्तमान कालीन नूतन जंजीर को कभी पहचान न पाने वालले आभूषण के रूप में यों प्रस्तुत किया गया है।

असंख्य ज़ंजीरें थीं सब तरफ़
उनमें से कभी टूट जाती थी कोई ज़ंजीर
तो मच जाता था तहलका
कभी-कभी ऐसा भी होता था कि उस
तरफ़ नहीं जाता था
किसी का ध्यान

यह भी दिलचस्प था कि कुछ पाठ
शामिल कर दिए गए थे बच्चों की
किताबों में
जिनमें बताए गए थे ज़ंजीरों को काटने
के सैद्धांतिक तरीके
मगर बच्चों की मुश्किल यह थी कि
ज़ंजीरों के साथ जीने की कला
के बारे में भी कुछ किताबें थीं पाठ्यक्रम में
इस तरह ज़ंजीरों की प्रतिष्ठा ने लगभग
अटूट कर दिया था ज़ंजीरों को
वे आभूषणों की तरह हो गई थीं
कुछ संस्कारों की तरह थीं और पवित्र
बंधनों की तरह चिपकी थीं त्वचा से
लगता था उन्हीं ने थाम रखा है संसार
वे हमारी सभ्यता का चेहरा हो गई थीं

जंजीरों को जीवन में इस तरह की प्रतिष्ठा मिलने लगी कि ये जंजीरें जीवन में अनिवार्य और अटूट बन गईं और इन जंजीरों को आभूषण की तरह पूर्ण रूप से लगाने लगे। काया बदलकर कभी पहचान न पाने के रूप में यही जंजीरें हमारे जीवन में एक नए संस्कार का रूप धारण करके प्रत्येक के साथ जुड़ गईं। किसी के साथ ये जंजीरें पवित्र बंधन के रूप में जुड गईं। पूरी दुनिया ने एक नूतन सभ्यता के रूप में अपनी छाती से कसके थाम लिया है ये जंजीरें। बरसों बाद क्रमिक विकास की प्रक्रिया जो है, उस के दौरान काफी पश्चात ही पता चलता है कि, यह केवल लगने की बात मात्र नहीं है बल्कि वास्तविक जंजीरें ही हैं। लेकिन जब हमें यह हकीकत पता चलता है तब तक बहुत देर हो चुकी होगी। कवि हमें सचेत करते हैं कि इस नव संदेहास्पद दुनिया में समय पर सही पहचान लगाना बडी बात होती है। लेकिन भूमंडलीकरण की ताकत यह है कि प्रत्येक का वास्तविक चेहरा हम पहचान नहीं पाएँगे, और जब पहचान लेते हैं तब हम देर हो चुके होंगे। वर्तमान काल के उच्च प्रबंधन संस्थाओं से जो बच्चे प्रबंधन शिक्षा ग्रहण

करके निकलते है उन्हें यही कला सिखाकर बाहर भेजते हैं कि वर्तमान समाज में इस प्रकार के भ्रम फैलाएँ कि जो भी उत्पाद है वे जीवन में अनिवार्य उत्पाद हैं। एक दृष्टि से जीवन के जंजीरों का रूप बदलकर प्रस्तुत करने की कला हमारे उच्च प्रबंधन संस्थाओं में ही सिखाया जाता है। लेकिन सोचने की बात यह है कि इन जंजीरों को पहचानने और उन्हें तोड़ने वाले सिद्धांतों को भी ऐसे ही शैक्षिक संस्थाओं में सिखाया जाता है। यह समय की माँग है कि जंजीरों को तोड़ने की कला ऐसे कुछ प्रबल और प्रतिभावान छात्र सीख लें और वे समाज के आगे सीना तान के खड़े होकर इन जंजीरों को तोडने के महा अभियान में आम जनता का नेतृत्व करने आगे आएँ। कवि इस आशा से ही पाठकों को सचेत कर रहे हैं।

इस संसार में जो भी कहीं था
वह मित्र था या फिर शत्रु
कुछ इस तरह के शत्रु थे कि मुसीबत में
आते थे काम
कुछ इस तरह से मित्र थे
कि उनके रहते ज़रूरत न थी शत्रुओं की

'उसी एक क्षण' नामक कविता में नव संदेहास्पद दुनिया की सबसे बडी करामत प्रस्तुत की गयी है। यह करामत यही है कि आज हम किसी को पहचान नहीं पाते। मित्र हो या शत्रु दोनों को पहचानना इस जमाने में मुश्किल है। जिनको हम सदियों से शत्रु समझकर दूर रखना चाहते हैं, वास्तव में वे ही कभी-कभी हमारे काम आते हैं। लेकिन जिनको हम ने मित्र के रूप में जिघरी दोस्त समझकर सदियों से दिल से लगाकर रखा है, वे कुछ एक मौकों में इस प्रकार पेश आते हैं कि शत्रु भी अपने सर झुका लेते हैं। कुमार अंबुज जी कहना चाहते हैं कि इस जमाने में शत्रु और मित्र को पहचानना मुश्किल की बात है। यह जो नयी सीख, सीख लेना समय की मांग है। इस प्रकार की विवेच्य बुद्धि विकसित करना कि शत्रु को भी पहचान पाये और मित्र को भी।मित्र समझ कर जिनको हम अपने साथ रखते हैं, वे कभी-कभी हमारे दुश्मन से भी बढ़कर घायल करने वाला कार्य करते हैं। धोखा देने वालों को पहचानने की कला सीखे बिना इस दुनिया में जीना मुश्किल कार्य है। वर्तमान समय के अनुकूल, विवेच्य बुद्धि विकसित करना वर्तमान समय की मांग है, और कुमार अंबुज जी हम से यही अपेक्षा रखते हैं। हम एक प्रकार से संदेहास्पद दुनिया में रहते हैं और इस संदेहास्पद दुनिया में जीने की कला सीखने की आवश्यकता है। क्योंकि वर्तमान युग में विभिन्न क्षेत्र से जुड़ी कई प्रकार की समस्याएं हमारे

सामने खड़ी हैं। इन समस्याओं को पहचानने और उन समस्याओं को पार करने की ताकत हमें हासिल करना समय की माँग हैं। एक प्रकार से हमारे वर्तमान समय की चुनौतियों एवं जटिल समस्याओं को अत्यंत विस्तृत कलेवर में प्रस्तुत करने का प्रयास वर्तमान कालीन कवियों ने किया है। कवियों ने अपनी रचना धर्मिता के रूप में सामाजिक समस्याओं को शब्द-बद्ध करके उनके खिलाफ संघर्ष करने और आवाज उठाने की कोशिश अपनी रचनाओं के जरिए की है। कुमार अंबुज की इन चयनित कविताओं की पंक्तियों की सम्यक निरीक्षण करने पर एक गंभीर और अपेक्षित दार्शनिक मार्गदर्शन हमारे सम्मुख उबर आते हैं। वर्तमान नव संदेहास्पद दुनिया में जीने केलिए जिस कला की आवश्यकता है उसी कला के दार्शनिक रूप को कुमार अंबुज जी ने अपनी कविता के ज़रिए हमारे सम्मुख रखा है। यह दार्शनिक काव्य यात्रा समय की माँग है। समकालीन संकीर्ण समस्याओं और चुनौतियों का सामना करने केलिए एक दार्शनिक विचारक के रूप में ही नहीं बल्कि एक पथ दर्शक के रूप में कुमार अंबुज जी हमारे सामने पेश आते हैं। वर्तमान नव संदेहास्पद दुनिया में जीने केलिए सबसे ज़रूरी सीख अपनी कविताओं के ज़रिए देने का प्रयास है। इस नव संदेहास्पद दुनिया में आम जनता के दिल और दिमाग में अपेक्षित सूझ के रूप में एक प्रकार की दार्शिनिक काव्य यात्रा ही इन चयनित कविताओं के ज़रिए स्पष्ट होती है। ■

संदर्भ सूचि

1. अनंतिम, कुमार अंबुज, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवट लिमिटड, नई दिल्ली।
2. समकालीन हिंदी कविता और कुमार अंबुज, डॉ. बाबु जॉसफ, अमन प्रकाशन, कानपूर।
3. भारत का भूमंडलीकरण, सं. अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
4. https://www.hindipoem.org/kumar-ambuj-poem-in-hindi/
5. https://www.hindi-kavita.com/HindiKalSunnaMujheSudamaPandayDhoomil.php

भूमंडलीकरण और हिन्दी कविता

डॉ. राजन डी. के

असिस्टेंट प्रोफस्सर, हिंदी विभाग, केरल विश्व विद्यालय

आज विश्व-भर में भूमंडलीकरण का असर हो चुका है या अब उसकी चरम दशा है।यह एक मुक्त अर्थ-व्यवस्था है।यह सम्राज्यवादी देशों की साजिश है।विश्व पूँजी को अपने कब्जे में रखने का षड्यंत्र है। उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद से इसका संबन्ध है। मार्क्स और एंगल्स ने कम्युनिस्ट मानिफेस्टो में लिखा है-"अपने माल केलिए बराबर फैलते हुए बाज़ार की ज़रूरत के कारण पूँजीपति वर्ग दुनिया के कोने कोने की खाक छानता है।वह हर जगह घुसने का,हर जगह पैर जमाने का ,हर जगह संपर्क कायम करने का उद्यम करता है।विश्व बाज़ार को अपने लाभ केलिए इस्तेमाल कर पूँजीपति वर्ग ने हर देश में उत्पादन और खपत को एक सार्वभौमिक रूप दे दिया"। वास्तव में मार्क्स और एंगल्स ने वैश्वीकरण की जो परिकल्पना की थी, उससे भी अधिक विकराल रूप में आज इस प्रक्रिया देखा जा सकता है। आज भूमंडलीकरण का अंतिम दौर है अथवा इस नई अर्थ-व्यवस्था का रूप बदल गया है।अब बहुराष्ट्रीय कंपनियों के रूप में इसका सशक्त रूप विद्यमान है।विश्व के सारे देश इनके उपनिवेश बन गए हैं।विश्व के सारे संसाधनों का अधिकार इन क़ॉर्परिट कंपनियों के हाथों में है।वर्तमान दौर में पूरी दुनिया एक 'कॉपरेट समाज ' के रूप में बदल गयी है। भारत भी इससे मुक्त नही है।

वैश्वीकरण ने पूरी दुनिया को एक बाज़ार के रूप में बदल दिया है।विश्व भर के लोग इनके सामने एक उपभोक्ता मात्र बन गया है। बाज़ारीकरण अथवा भूमंडलीकरण की इस प्रक्रिया ने हमारी स्वतंत्रता हमसे छीन ली है। इसने हमसे हमारी वैचारिक स्वतंत्रता भी छीन ली है। इससे हमारी चयन करने की क्षमता भी नष्ट हो गई है।अब अपनी मनपसंद

चीज़ों को तयकरने का अधिकार इन कम्पनियों के पास ही है।हमें क्या चाहिए, क्या खरीदना हैं और क्या नहीं ? इसका निर्णय लेने का अधिकार इन 'कॉपरेट कम्पनियों के पास हैं। 'आज़ादी उर्फ गुलामी' नामक कविता में इनका उल्लेख करते हुए कवि ज्ञानेन्द्रपति लिखते हैं-

"आज़ादी के गोल्डन जुबली साल में
आज़ादी का मतलब है
बाज़ार से अपनी पसन्द की चीज़ चुनने की आज़ादी
और आप की पसन्द
वे तय करते हैं
जिनके पास उपकरणों का कायाबल
विज्ञापनों का मायाबल
आपकी आज़ादी पसन्द है उन्हें
चीज़ों का गुलाम बनने की आज़ादी।"1

आज बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विज्ञापनों के ज़रिए हमारे दिमाग में यह परिवर्तन लाते हैं।ये कम्पनियाँ हमें एक उपभोक्ता के रूप में तब्दील करके उनके माल का गुलाम बनाने का साजिश रच रहे हैं। वर्त्तमान दौर की कविता में इसका विचार – विमर्श देखने को मिलता है।

नव-उपनिवेशिक शक्तियाँन केवल राष्ट्र को बल्कि व्यक्तियों को भी अपने अधीन में लाने का प्रयास करती हैं । बाजारीकारण के चकाचौंध में फँसकर व्यक्ति को अपना सपना देखने की क्षमता भी नष्ट हो गयी है ।सपना देखना सचेतन मन की प्रतिक्रिया है।यह व्यक्ति को अपने जीवन में नयी आशा देता है और अभिलाषा भी। यह उसको नयी भाषा देता है । वतर्मान के इस कठिन समय में सपना देखने का अंत होने का मतलब है अपनी अशाओं का अंत होना ,अपनी अभिलाषाओं का अंत होना ।हमारे सोचने की क्षमता भी ख़त्म होना । हमें अपनी अस्मिता ,अपनी भाषा और अपने इतिहास से भी नष्ट होना।परंतु समकालीन कवि इस कठिन और खतर्नाक समय के प्रति जागरूक हो जाते हैं।वे अपने समय के संकट की ओर गंभीर विचार करके लिखते हैं-

"सपने की किसी अंत का मतलब
स्वप्न देखने की प्रक्रिया का अंत नहीं है।
इतिहास
कविता
और भाषा तक के अंत की घोषणा करने वाले
इस बेहद खदर्नाक समय में
मैं चीख-चीख कर कहना चाहता हूँ
कि सचमुच भाषा का अंत हो जाए
तब भी अपने देखने जाने का अंत नहीं होगा।"2

ये नव उपनिवेशवादी शक्तियाँ

अदृश्य होकर हम पर हमला करती है। हम इनके सही रूप को पहचानते नहीं।ये शक्तियाँ हमारे मोहल्ले में, कला में, घर में अदृश्य बनकर पधारते हैं। वर्तमान कविता में साम्राज्यवाद के इन नये रूपों का चित्र उपलब्ध है। उदयप्रकाश जी 'बहेलिये' नामक कविता के जरिए इस नव-औपनिवेशिक ताकतों के अदृश्य हस्तक्षेप को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

वे आये है इधर
हमारे मोहल्ले में , कविता में ,कला में
तंबू गाड दिया है उन्होंने अपना
वे आये है/फूलों के तीर कमान
चिडियों की भाषा
बच्चों की हँसी
पौधों की हरियाली के साथ
विनम्र,मुलायम,धुले
साफ सफेद"। 3

इस कविता के ज़रिये उदयप्रकाश जी यह व्यक्त करना चाहते हैं कि ये नवउपनिवेशवादी शक्तियाँ हमारी संस्कृति पर ही अपनी जडें जमा रही हैं।

आज भारत में किसानों की आत्महत्या बढ रही है।हर आधे घंटे में देश के कोने कोने में किसानों की आत्महत्या हो रही है। नव-औपनिवेशिक ताकतों द्वारा संचालित नयी अर्थ-व्यवस्था और उदारीकरण की राजनीति इसके मूल में है। औद्योगीकरण का तेज प्रचार –प्रसार तथा विदेशी राष्ट्रों की प्रयोगशाला में निर्मित एवं परिपालित नये नये बीजों के प्रयोग ने भारत की हरियाली भूमि को ऊषर बना दिया है । खेती के क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का हस्त्क्षेप हुआ है ।इसने किसानों की समस्याओं को और भी बढा दिया है । बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा महाजनी सभ्यता के चंगुल में फँस कर किसानों को अपना घर, ज़मीन, तथा फसल आदी खोना पडा।किसान किसानी छोड्कर शहर की मिलों और फाक्टरियों में मज़दूर बनकर काम करने केलिए विवश हो रहे हैं । उनके गाय –बैलों को नीलाम करना पडा है।ऐसे कठिन समय में भारतीय किसानों के सामने आतमहत्या के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। भारतीय किसानों के इस दर्दनाक स्थितियों एवं जीवन के प्रति समकालीन कवि सचेत हो उठे हैं।किसानों के आत्मरूदन को अनसुना करना उनकेलिए संभव नहीं है।"कन्हार" नामक कविता में कवि एकांत श्रीवास्तव जी इसका खुला बखान करते है –

"कभी देखो महाजनी की
महीनपैंतरेबाजियाँ

जलती हुई फसलें
नीलाम होते गाय-बैल
बिकते हुए खेत
और उसकी मिट्टी से लिपट कर
रोता हुआ किसान"।4

गाँधीजी का कथन है कि भारत की आत्मा गाँवों में रहती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि गाँव और ग्रामीण जीवन भारतीयता का प्रतीक है।किसान इसका केन्द्रबिन्दु है।पर नवौपनिवेशवाद और बाज़ारी संस्कृति की भ्रमात्मकता किसानों की ज़िन्दगी त्रासद बना देती है।बाज़ारीकरण और उदारीकरण के चंगुल में फँस कर भारत के किसान अपना जीवन बर्बाद करता है। नवउपनिवेशिक संस्कृति पनपने के कारण देश की किसानीय संस्कृति भी खत्म हुई है।समकालीन कविता में इन सबकी अभिव्यक्ति हुई है।

वैशीकरण के दौर में सब कुछ बिकने की चीज़ है । इसलिए हमारा समाज एक उपभोक्ता समाज बन गया है। बाजारवाद की इस दुनिया में स्त्री केवल बिकाऊ चीज़ बन गयी है ।विज्ञापन से लेकर सिनेमा के क्षेत्र तक स्त्री –देह का इस्तेमाल करता है ।स्त्री की ओर होने वाले इस अत्याचार के खिलाफ निर्मला पुतुल ' ये वे लोग हैं जो..' नामक कविता में लिखती है:-

"ये वे लोग हैं जो खींचते हैं
हमारी नंगी –अधनंगी तस्वीरें
और संस्कृति के नाम पर
करते हमारी मिट्टी का सौदा
उतार रहे हैं बहस में हमारे ही कपडे "5

लेकिन यह विचारणीय है कि इस उपभोक्तावादी समाज में स्त्री अपनी अस्मिता बनाये रखने केलिए संघर्षरत भी है । वह अपनी ओर होनेवाले तमाम प्रकार के शोषण ,दमन –उत्पीडन आदि के खिलाफ आवाज़ उठाती है ।स्त्री आज स्वावलंबी बनाने की कोशिश कर रही है । सविता सिंह की कविता 'मैं किसकी औरत हूँ ' स्त्री को दबाकर रखने वाले पुरुष-सत्तात्मक समाज के खिलाफ आवाज़ बुलंद करती है ।लेखिका अपने औरत होने पर नहीं बल्कि किसी की औरत होने पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए कहती हैं ;

"मैं किसी की औरत नहीं हूँ
मैं अपनी औरत हूँ
अपना खाती हूँ
जब जी चाहता है तब खाती हूँ
मैं किसी की मार नहीं सहती
और मेरा परमेश्वर कोई नहीं "6

यहाँ हम देख सकते हैं कि बाजारीकरण के दौर में भी स्त्री अपनी अस्मिता एवं आत्मसम्मान के साथ जीने केलिए संघर्ष कर रही है ।

भूमंडलीकरण के दौर में आदिवासी जीवन भी खतरे में है ।

विकास के नाम पर आदिवासी समाज को अपनी जमीन से बेदखल कर दियाजा रहा है । उदारीकरण और बज़ारीकरण की राजनीति ने उन्हें अपने जंगलों से विस्थापित कर दिया है । बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने इनके जंगल काटकर उसके स्थान पर नए कारखाने खोल दिया है ।इसके वजह से आदिवासियों को अपना जल, जंगल, और ज़मीन नष्ट हो गया है । ये कंपनियां आदिवासी संस्कृति को भी ख़त्म कर दिया ।आदिवासी समाज की पहचान भी तहस-नहस कर दिया है ।' बाजारीकरण से उत्पन्न आदिवासियों के इस संकट को ' संथाल परगना ' नामक कविता में निर्मला पुतुल अभिव्यक्त करती है :

"बाज़ार की तरफ भागते
सब कुछ गड्डमड्ड हो गया है इन दिनों यहाँ
उखड गए हैं बडे -बड़े पुराने पेड़

और कंक्रीट से पसरते जंगल में
खो गयी है इसकी पहचान "7

आज आदिवासी समाज इन नव-औपनिवेशिक ताकतों के खिलाफ संघर्ष कर रहे हैं ।वे अपनी खो गयी अस्मिता को ,अपनी ज़मीन को वापस लेने केलिए मुहीम चलाते हैं । आज अपना घर , अपनी जमीन और अपने आप की तलाश करनेवाली आदिवासी समाज का चित्र निर्मला पुतुल उकेरती है-

"धरती के इस छोर से उस छोर तक
मुट्ठी भर सवाल लिए मैं
दौडती- हाफती - भागती
तलाश रहीं हूँ सदियों से निरंतर
अपनी ज़मीन ,अपना घर
अपने होने का अर्थ !!8

वैश्वीकरण की भ्रमात्मक दुनिया ने दलित समाज को आकर्षित किया है।

वैश्वीकरण और बाजारीकरण के चकाचौंक में फँस कर दलित समाज के लोग शहर की ओर दौड़ रहे हैं ।शहर उन केलिए सब प्रकार के अमानवीय शोषण व्यवस्था से,जाती-वर्ण व्यवस्था से मुक्ति का साधन है ।ग्रामीण जीवन को स्वीकार करने केलिए वर्त्तमान युवा पीढी तैयार नहीं हैं । गाँव और ग्रामीण जीवन दलितों केलिए नरक सामान है । वहां 'जाती ' का अमानवीय चेहरा दलितों को परेशान कर रहे हैं । इसलिए ओमप्रकाश वाल्मीकि जैसे कवि लिखते हैं-

"स्वीकार्य नहीं मुझे
जाना ,
मृत्यु के बाद
तुह्मारे स्वर्ग में ।
वहाँ भी तुम ।
पहचानोगे मुझे
मेरी जाती सेही ! "9

संक्षेप में , वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने विश्व भर के देशों के पतन का कारण बन गया है ।लेकिन इसका प्रतिरोध करने का प्रयास भी देश भर में हुआ है। भारत में भी वैश्वीकरण,बाजारीकरण, उदारीकरण आदि का विरोध करने का प्रयास हुआ है ।साहित्य में भी इसका खुला विरोध करने का प्रयास विद्यमान है ।समकालीन हिन्दी कविता में विश्वीकरण के विरुद्ध प्रतिरोध का स्वर अधिक मुखरित है ।

सन्दर्भ सूचि

ज्ञानेन्द्रपति-संशयात्मा –पृ-123

मदन कश्यप –कुरूज़ - पृ-19

उदयप्रकाश-बहेलिए-

एकांत श्रीवास्तव –ऋतुएँ आती हैं - –पृ-134)

निर्मला पुतुल -नगाड़े की तरह बजते शब्द -पृ-53

कहती है औरतेन –पृ-137

निर्मला पुतुल-नगाड़े की तरह बजते शब्द –पृ -26

निर्मला पुतुल-'नगाड़े की तरह बजाते शब्द '-पृ-30

बस !बहुत हो चुका –पृ -78

'लैब्रडोर' (चंद्रकांत देवताले) : पूँजीवादी परिवेश की व्यंग्यात्मक अभिव्यक्ति

डॉ. लीना बी. एल.
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग,केरल विश्वविद्यालय

वर्तमान कविता जनचेतना की संवाहिका बनकर आम आदमी की पीड़ा व्यक्त करती है। युवा पीढ़ी के कवि केवल परिस्थितियों का तटस्थ चित्रण ही नहीं करते बल्कि वे संघर्षरत आम आदमी का प्रतिनिधित्व करते हैं और शोषण व दोहन की दुर्व्यवस्था के विरोध में आवाज़ उठाने के लिए मजबूर करते हैं। वैश्वीकरण एक ऐसी व्यवस्था है जो हर देश की सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, आर्थिक स्थितियों एवं मूल्यों में परिवर्तन ला रहे हैं। नवपूंजीवाद, नवऔपन्यवेशिक, बाजारवाद, उपभोक्तावाद, जनसंचार एवं मीडिया के बढ़ते चरण, पश्चिमी मूल्यों का आक्रमण, अर्थ के पीछे अन्धाधुंध भागदौड आदि वैश्वीकरण के हथियार बने हैं। पूरे विश्व को विश्वग्राम में तब्दील कर दिया। आर्थिक भूमंडलीकरण का विस्तार हुआ। इस बाजारवाद के विपक्ष वर्त्तमान कवि खड़े हैं। बाजारवादी ताकतों को बेनकाब कर वे पूँजीवादी लोकतंत्र के विरोध में बयान कर रहे हैं। बाजारवाद उत्तर पूँजीवाद की संतान हैं जिसने उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया है। "बाज़ार उस यान जैसा है जो नियंत्रित गति से चलता है और जिसमें क्लच, गियर, ब्रेक सभी काम करते हैं। बाजारवादी वाहनों में ये तीनों फेल होते हैं काम केवल एक्सेलरेटर करता है। "

देवताले की कविता संग्रह 'पत्थर की बेंच' में संकलित कविता है लैब्रडोर। यह काव्य-संग्रह उनकी

वर्त्तमान कव्योपलब्धि का साक्ष्य है। इस संग्रह में निन्यानब्बे कविताएँ संकलित हैं और लैब्रडोर इस कविता संग्रह की अंतिम कविता है। समकालीन कविता पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था से संघर्ष करती आज भी शोषितों के हक़ के लिए जूझ रही हैं। श्रमिक वर्ग अपने अभावों के कारण मानवीय संवेदना से रिक्त हो रहे हैं। वह पूँजीवादी वर्ग का विरोध नहीं कर पा रहा है। देवताले व्यंग्यात्मक स्वर में उसकी सोयी चेतना को जगाने का प्रयास करता है। कवि श्रमिक वर्ग की दयनीय स्थितियों के चित्रण ही नहीं करते बल्कि उनके पीछे ज़िम्मेदार कारणों की जाँच पड़ताल करते हैं। सस्ता वर्ग और उद्योगपति वर्ग मिलकर श्रमिक वर्ग पर अमानवीय चोट कर रहे हैं। मीडिया पूँजी की भाषा बोल रहा है। सर्वहारा वर्ग के साथ मध्यवर्गीय पीड़ा को स्वर देते हैं। सर्वहारा वर्ग को क्रांति के लिए तैयार करते हैं। पूँजीपति वर्ग पर चौतरफा प्रहार की कोशिश है। कवि सर्वहारा वर्ग को जागरूक बनाने के लिए व्यंग्य का सहारा लेते हैं। कवि स्वयं स्वीकार करते हैं कि वे जिस न्याय की कुर्सी पर बैठे हैं वह तो सत्ता की कुर्सी है न न्यायाधीश की कुर्सी है, वह तो कवि की कुर्सी है जिस पर बैठकर वह न्याय की भाषा बोलते हैं। सामाजिक विसंगतियों से विडम्बना का जन्म होता है। विसंगति और विडम्बना के बोध से व्यंग्य पैदा होता है। ऐसा व्यंग्य सामाजिक विडम्बना के बोध को व्यक्त करते हैं।

'लैब्रडोर' ग्यारह भागों में बँटी लम्बी कविता है। ग्यारह खण्डों में बँटी यह कविता पूँजीवादी साम्राज्य को उघाडा करते हुए उपभोगवादी परिवेश पर हमला करते हैं। सघन चिंतन से ओतप्रोत कविता है लैब्रडोर। लैब कुत्ते की दी गयी संज्ञा हैं। इसे प्रतीकार्थ के रूप में समझी गयी है। लैब साम्राज्यवादी देशों में जन्मा,पला बड़ा एक ऐसा जानवर है जिसे हिंसात्मक प्रवृत्ति के लिए तैयार किया गया है। सुरक्षा के लिए इन्हें पाला जाता है। इसका प्रतीकार्थ है पूँजीवादी परिवेश। पूँजीवादी वर्ग के हितों की रक्षा के लिए लैब का आगमन भारत में हुआ। इसके गुण और अवगुण पूँजीवादी परिवेशगत बुराईयों को उजागर करते हैं। पूँजीवादी परिवेश ने जिस चकाचौंध स्थिति को पैदा की है, उसका प्रतीक है लैब। समय की भयावहता को प्रकट करने के लिए यह प्रतीक काफी सक्षम है। एक तरफ प्रवृत्ति का जीवंत हरापन तो दूसरी तरफ बनावटी चमक के लिए पूँजीवादी परिवेश। भयानक सच को कल्पना के ज़रिये दिखाने का प्रयास कवि करते हैं।

"भयानक बेमाप वैसा ही लैब्रडोर
और कुछ यूं भी कि जैसे मिट्ठुओं का हरा रंग बिखर जाए
रख बनकर
अज्ञात इलाकों में पत्थरों के नीचे

दफना दी जाए कोयल की आवाज़।"

पृथ्वी का नैसर्गिक चमक हटने पर भयंकर अन्धकार होगा। सम्पूर्ण प्रकृति को पूँजीवादी परिवेश निगल रहा है। सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी परिवेश से बुरी तरह ज़ख़्मी हुआ है। कवि पूँजीपतियों की असंगति देखते हैं। सर्वहारा वर्ग सदैव पूँजीपति वर्ग के दास बने रहे। आपस में छोटे-छोटे रोटी के टुकड़ों के लिए एक दूसरे को खाते रहे। सर्वहारा वर्ग को सदा कुचलने के बारे में यह वर्ग सोचता है। कवि ने सर्वहारा वर्ग की शक्ति को समाज की विशिष्ट शक्ति के रूप में उभारा है। इस सर्वहारा वर्ग की शक्ति पर ही पूरा विश्व टिकता है। यह वर्ग पूरी तरह ज़ख़्मी है।

"शब्दों के भीतर से सड़क ढूँढने की कोशिश में
गिर पड़ें किसी अँधेरे तहखाने में
जुगुनुओं की चमक पर पहाड़ों के टूटने की तरह भि
गुमशुदा गायब बहुत साड़ी ज़रूरी चीज़ें
और ज़ख़्मी प्रर्ताना इस वक्त भीतर की लैब्रडोर
'आँतों को निकालकर सुखा दें जैसे जंगलों की पीठों पर
...हड्डियों की ढांचे की तरह।"

इस पूँजीवादी परिवेश ने मानव को रास्ताविहीन बना दिया है। उन्हें अँधेरे तहखाने में धकेल दिया है। जुगुनुओं का थोड़ा सा प्रकाश बचा हुआ है वह भी कुछ मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी वर्ग मुसीबतों का पहाड़ तोड़कर नष्ट करने का प्रयास कर रहे है। सर्वहारा वर्ग के साथ खड़े होने का ढोंग रचकर उनको ओर अन्धकार पूर्ण जीवन में धकेल देते हैं। इनके दुःख और तकलीफों को कम करने के बजाय उन्हें ज्यादा गरीबी और परेशानी में डुबो देते हैं। पूँजीपति वर्ग के अतिक्रमण से प्रगति की बहुत सारी ज़रूरी चीज़ें गायब हो रही है। इनके अत्याचार से सर्वहारा वर्ग संवेदनहीन होते जा रहे हैं। पूँजी के वर्चस्ववादी समाज ने आम आदमी को विकास की गर्त में धकेलकर औजारविहीन पंगु बना दिया। कवि सर्वहारा वर्ग के जीवन के अँधेरे को देखता है। बुद्धिजीवी वर्ग उसकी तरफ से बोलने और लड़ने को आगाज़ करते हैं। कवि बदलाव के लिए संघर्ष का आह्वान करते हैं। कवि पूछता है कि श्रमिक वर्ग पूँजीपति वर्ग के सम्मुख चुप्पी क्यों लगाए हैं? उनके वास्तविक दुश्मन को क्यों नहीं पहचानते हैं? हिंसक जानवर की तरह उन पर टूटकर उनकी शक्ति क्षीण करने का आह्वान करते हैं। कवि अपने भीतर के लैब से जागने के लिए कहते हैं। अन्यथा इस सर्वहारा वर्ग के आँतों को निकालकर उन्हें सुखाकर और मात्र हड्डियों की ढाँचे बनाकर जंगली भैंसों की पीठ पर टांग देंगे। वे केवल पताविहीन, स्मृतिविहीन हड्डियों के ढाँचे मात्र रह जाते हैं। उनके रिश्ते,

किस्से, पुरखों की बगीची सब कुछ उखाड़ दिया जाता है। सब कुछ तोड़ने और फेंक देने के लिए उन्हें प्रेरित करते हैं। पूँजीवादी परिवेश ने मशीनों की दुनिया देकर उसकी शक्ति और रोटी दोनों को छीन लिया है।

"अभी –अभी जहाँ से उड़ गए
हों चमगादड़
वैसे ही उजाड़ कोटरों –सी फटी
सफेद खंख आँखें
किस भरोसे की दिशा में चीख
या फुसफुसाहट की
बताओ लैब्रडोर, कहाँ से शुरू
करें हम चाकुओं से खेलती
इस हवा में "

रात को निकलनेवाले इन चमगादड़ों ने गरीबों की बस्तियों को उजाड़ दिया है। सत्ताधीशों के खंख आँखों ने उनके कोटरों या कुटीर को विजन बना दिया है। इन गरीबों की चीख का फुसफुसाहट को सत्ताधीशों ने पीछे छोड़ दिया है। अत्याचार और हत्यारों से वातावरण मैला हो गया है। सर्वहारा वर्ग की तकलीफ बढता जा रहा है। कवि पूछता है कि इसका अंत करने का यज्ञ कहाँ से शुरू करना है?

"एक बेईमान –तंगदिल
आदमी के सामने
तुम्हें खड़ा करता हूँ लैब्रडोर
तुम खामोश रहते हो
वह डींगें हांकता है"

कवि यहाँ लैब से पूछते हैं कि उन वर्त्तमान बेईमान परिस्थितियाँ देखने के बावजूद भी खामोश क्यों हो? अगर एक बेईमान इंसान के सामने तुम्हें खड़ा कर दें और वह ईमान और त्याग की डींगें हाँकता रहे तो तुम क्यों तटस्थ रह जाते हो? समय पत्थर बन चुका है। अपने जो पंजे हैं उसके नाखूनों से तुम केवल धरती खोदते ही रहते हो। भौंकना तक भूल गए हैं। बस नथुनों में थोड़ी से सुगबुगाहट और कानों को ज़रा सा फडफडाते रहते हैं। कभी-कभी कमीनेपन को अनदेखा करना ही बुद्धिमानी है। यह तुम भला समझते हो। परिवेश की जड़ता ने सर्वहारा वर्ग को चेतना विहीन बना दिया। वर्त्तमान राजनीति इतना भ्रष्ट और बेईमान हो चुकी है। पूँजी की ताकत इस भ्रष्ट राजनीति के सामने खड़ी है। जब पूँजीपति वर्ग इस सर्वहारा वर्ग के साथ होना चाहिए तब वह उसे अकेले मरने छोड़ देते हैं। पूँजीपति परिवेश अपनी जड़ता को नहीं तोड़ता है ,चुप्पी साध लेते हैं। क्योंकि यह परिवेश अपना नहीं है, यह परिवेश बाहरी ताकतों ने उनपर लादी है। पूँजीपति वर्ग भी ऐसी विचारधारा के साथ आगे बढ़ रहे हैं और ताकतों के भी इनके साथ जुड़ने पर ये पूरी तरह शोषक वर्ग बन गए हैं। अगर क्रांति का स्वर वहीं से शुरू होते तो पूंजीपति वर्ग इतना अमानवीय अत्याचार नहीं करते। यह परिवेश

व्यक्ति के भीतर बाहरी स्वार्थ और मतलबी दुनिया बना रहे हैं। मानवीय लगाव और संवेदना लुप्त होती जा रही है। उसे तोड़ नहीं सकते। प्रेमचंद के 'गोदान' उपन्यास में भी ज़मीदार रायसाहब होरी से कहते है कि यह हमारी विवशता है जो परंपरा से चली आ रही है, इसे हम तोड़ नहीं सकते। "मैं जानता हूँ कि कभी- कभी देवताले इन पूँजीपति वर्ग पर व्यंग्य करते हैं-

कमीनेपन को अनदेखा करना ही
समझदारी होती है
क्या तुम भी
ऐसे ही स्तिथप्रज्ञ-समझदार
हो गए हो लैब्रडोर"

एक ओर सामाजिक विघटन है तो दूसरी ओर उदारीकरण की नीतियों में लिपटी दुनिया की चाल को देवताले पहचानते हैं। संचार क्रांति के नाम पर बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियों का प्रवेश जारी हो रहा है। सूचना के नए उपनिवेश का बोलबाला है। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का दबाव दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। मीडिया भी पूँजी की चपेट में आ गया है। उसकी भूमिका भी संदेहास्पद हो गयी है। मीडिया परिवेश में अपनी जगह बनाने के लिए जिस स्थान से पूँजी प्राप्त कर रहा है, उसे वह पूँजी लौटानी है साथ ही अपनी कमाई भी करनी है। मीडिया दिशाहीन हो गया है। आम आदमी की आवाज़ उसमें नहीं है।

"अखबार को क्यों खुंद रहे हो
लैब्रडोर
शब्दों की गंध से इतने परेशान
नहीं है उनमें गूंगेपन का दर्द
जहाँ सूराख किया तुमने
वहाँ था आवश्यक
वस्तु अधिनियम का निर्देश"

मीडिया में जिन चीज़ों का विज्ञापन होते हैं उसके पीछे का षड्यंत्र जानते हुए भी उजागर नहीं करता ।

"लैब्रडोर,अपने मुल्क के बच्चे
नहीं जानते दूध का स्वाद
जिस सफेद को गिटकते हैं
कभी कभार
वह है किसी संकर जाति का
द्रव पदार्थ "

आज अनेक कम्पनियाँ दूध बनाकर पैकटों में बेच रही है। जबकि वह दूध जैसा पदार्थ है बिना स्वाद के । आम जनता को परोसनेवाले दूध में मिलावट है। अपने देश के बच्चे दूध का स्वाद नहीं ले पाते हैं। बच्चे दूध के लिए तरस रहे हैं। यथार्थ को जनता के सामने ले आने में मीडिया विमुख हो रहे है। मीडिया के पास केवल राजनेताओं की तस्वीर और उनकी गूँजती आवाजें हैं। छोटे दृश्य को बड़ा बनाने की कोशिश में हैं। वास्तविक भाषण की काट छाँट करके अपने फायदे का दृश्य एवं भाषण प्रस्तुत करता है। भाषण का वही हिस्सा सुनाई जाता है जिसमें झूठे वादें, झूठा आश्वासन, झूठी योजनायें, झूठी सहानुभूति

हैं। उन्हें केवल कुर्सी का मोह हैं, गरीबों की चिंता नहीं, खूंटा उसका प्रतीक है

"कर्णधार दुखी है की खूँटा
कमज़ोर कर रहे हैं लोग
खूँटा मज़बूत रहेगा
तो ही सुरक्षित रहेगा देश"

जिन विज्ञापनों से लोगों को ललचाकर पूँजी कमाई गयी वही सर्वहारा वर्ग को उपभोक्तावादी बनाने की शुरुआत हो गयी। उसके पास रोटी के बजाय केवल उसका गंध है। कवि जिस यथार्थ को प्रस्तुत करता है, वह पाठक को बेचैन करने के साथ ही सोचने के लिए विवश करता है।

पूँजीवादी परिवेश ने हर व्यक्ति को पालतू बना लिया है। कवि पालतू शब्द स्वीकार नहीं करना चाहता। वह विरोध करता है। यह पूँजीवादी परिवेश भयानक स्थिति पैदा करती है जिसकी आत्मा अशुद्धता से भरी है। यह भय मानव को लगातार क्षीण बना देता है। कवि पूँजीवाद की सकारात्मक दृष्टिकोण को लक्ष्य करते हुए लैब से कहते है कि वर्त्तमान सड़े पूँजीवाद परिवेश से जनित भय को तोड़ने का फ़र्ज़ तुम्हारा बनता है। अन्याय या कपट की छाया जहाँ सर उठाती है वहाँ दाँत को गड़ाकर उसका नाश करना तुम्हारा कर्तव्य है। न्याय और अन्याय को समझकर विवेकपूर्ण दृष्टि अपनाना चाहिए। मार्क्स ने कहा कि " मानव परिश्रम से कैसे बड़े बड़े काम किये जा सकते है। इसे पूँजीपति वर्ग ने ही सबसे पहले दिखलाया है.. ।" जिन हत्यारों से पूँजीपति वर्ग ने सामंतवाद का अंत किया था, वे ही हथियार आज उसके खिलाफ तन गए हैं। पूँजीपतियों ने ऐसे आदमियों को भी पैदा कर दिया है जो इन हथियारों को इस्तेमाल करें और वे हैं मजदूर वर्ग। वर्त्तमान लेखक के समक्ष अनेक चुनौतियाँ हैं इसलिए मार्क्स की पुनर्निर्माण की बात तथ्यसंगत लगती है। लेखक के समक्ष मनुष्य के सही चित्रण का नहीं, उस मानवीय व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण का भी है।

वर्गबद्ध समाज व्यवस्था की विकृतियों ने मानव को टुकड़ों में बिखेर दिया है। सर्वहारा के मुक्ति के रास्ते समाजवादी यथार्थवाद से होकर गुज़रते हैं। लेखक का यथार्थवादी दृष्टि संपन्न होना चाहिए। इसमें यथार्थ का वह रूप मौजूद है जिसमें पूँजी के वर्चस्ववादी समाज ने आम आदमी को विकास की गर्त में धकेलकर औजारविहीन पंगु बना दिया। समकालीन कविता पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था से संघर्ष करती आज भी शोषितों के हकों के लिए जूझ रही है। देवताले शोषितों के प्रति केवल सहानुभूति नहीं दिखाते हैं बल्कि उनके दर्द में बराबर की हिस्सेदारी रखते हैं।

उपभोगवादी संस्कृति ने समाज को नाश के कगार पर खड़ा कर दिया है। देश भर में जो गरीबी फैली है उन्हें

यह नहीं देखती। वर्त्तमान सदी का सौंदर्य बोध हमारी जीवन दिशा को प्रभावित करता है। नयी पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था ने पूरे बाज़ार को उसके कृत्रिम सौन्दर्य में चकाचौंध कर दिया है। बहुर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ सौन्दर्य के बलबूते पर वस्तुओं का प्रचार करते हैं। देश की आर्थिक व्यवस्था को संपन्न बनाने और विकसित अर्थव्यवस्थाओं की श्रेणी में करने के लिए नवीन वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीतियाँ लागू की गयी है। वर्तमान पूँजीवादी परिवेश अपराधी चेहरों को न्याय के कठघरे में खड़ा कर देता है। स्वार्थ और सत्ता मोही बन गए हैं। वस्तुओं की बिक्री में संचार और प्रकाशन के क्षेत्र में बहुर्राष्ट्रीय कंपनियों ने प्रवेश किया है।

"तुम्हारे ही चेहरे की मासूमयत
औरबीभत्सतामें छिपाहै रहस्य
अपनी सदी के सौन्दर्य बोध का
तुम्हारे कान या मूंछ तुम्हारी
नहीं काटने दूँगा लैब्रडोर
तुम्हारी आवाज़
न्यायाधीशों तक
पहुँचना ही चाहिए।"

नवीन आर्थिक नीति तो मुक्त बाज़ार की प्रणाली है। हमारी नियोजित अर्थव्यवस्था के तंत्र को चकनाचूर करके बाज़ार पर आधारित अर्थ व्यवस्था पनप रहा है जो नग्न पूँजीवाद का सूचक है।

"जब सवारी निकले रजा की
तभी टूटेगा जादू
कि राजा के कपडे
सचमुच कपडे नहीं हैं
और देखनेवाले
नहीं तमाशबीन गूंगे"

भारत का सत्ताधारी वर्ग व्यवस्था लोक कल्याणकारी पहलुओं को त्यागकर नग्न निर्लज्ज पूँजीवाद का सहारा लेने लगे हैं। आज़ादी के बाद भारत की व्यवस्था कुछ स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान और कुछ राजनैतिक परिदृश्य के दौरान जनहित के कुछ झीने आवरणों के साथ आयी। लेकिन कुछ अंतर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के प्रभाव से भारत का संप्रभु वर्ग पावनता को नष्ट करके पतनशील, भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था को बढ़ावा देते हैं। हमारी न्याय व्यवस्था गूँगी बहरी हो गयी है। संप्रभुओं का खेल तमाशबीन बनकर देख रही है। न्याय की अपेक्षा करना बेईमानी है। पूँजीवादी परिवेश में समाज की स्तिथि दयनीय होती जा रही है।

"एक बॉक्सर ,दो ब्लड हाउंड
एक बुलडॉग
ए चारों मिलकर खदेड़ रहे हैं
दहाड़ते शेर को
बाकी तो गीदड़ों का फौज है"

यहाँ शेर भारत की नेता का प्रतीक है तो गीदड़ राजनेताओं का प्रतीक है। समाज को षड्यंत्रकारी चेहरों के लिए देवताले बाक्स, ब्लडहाउंड, बुलडॉग जैसे प्रतीक लाकर बहुर्राष्ट्रीयता का पोल खोलकर रखा है। देश को

आर्थिक दृष्टि से गुलाम बनाने के उद्देश्य से यह देश आगे आ रहा है । पूँजीपतियों को विदेशी शिकारी या हिंसात्मक कुत्ता कहा ह । कवि सत्ताधीशों को सतर्क रहने की चेतावनी देते हैं। इंसानियत के अभाव में सत्ताधीशों की आँखें पत्थ हो गयी है । जल्लादों के हाथ के खंडासे वे देख नहीं रहे हैं। बुलडॉग से भक्षकों की ज़ुबानों पर जनहित और राष्ट्रोन्नति के सतही नारे वे सुनाई नहीं देते। सत्ताधीश पूँजी की लालच में फँसकर देश का नुकसान करते रहते हैं । उनकी स्वार्थी प्रवृत्ति का इशारा कवि इस कविता के ज़रिये व्यक्त करता है। औपनिवेशिक ताकतों के प्रवेश से देश में खतरनाक स्थिति पैदा हो रहे हैं। युद्ध की साजिश हो रही है ।

कवि अपनी कविता में लैब्रडोर प्रतीक को दोहरे अर्थ में प्रयुक्त करते हैं । लैब अपने आप में काफी शक्तिशाली कुत्ता है । जिस प्रकार हमारे घर की सुरक्षा लैब करते है वैसे ही पूँजीवादी और औपनिवेशिक शक्तियों से देश की सुरक्षा करने का फ़र्ज़ लैब का है। उसी प्रकार लैब एक विदेशी कुत्ता है जो भारत जैसे देश में अपना अधिकार जमाकर जड़ें मज़बूत करते हैं। यह विदेशी कुत्ता पूँजीवादी का प्रतीक है। लैब को इस प्रकार कवि ने दोहरे भूमिका दी है। यहाँ स्थिति में बदलाव कोई जादू से नहीं होगा। केवल संघर्ष के ज़रिये ही इस व्यवस्था में बदलाव आयेगा। कवि आह्वान और क्रांति के लिए ज़मीन तैयार करता है। यहाँ हर चीज़ बिकाऊ है। बाज़ार का शासन हर जगह चलता है। मनुष्य गौण बन गया है। । और बाज़ार महत्व हो गया है । यह निरंकुश बाज़ार की नरंकुश गतिविधि है। परतंत्रता हमें चारों तरफ से घेर रहे हैं। बाज़ार ही सब कुछ तय करता है। कवि का आत्मसंघर्ष ही लैब के रूप में व्यक्त हुआ है। -

" फिर बताओ और गिनाओ नाम
जो बिकाऊ नहीं हैं उन चीजों के
...कितना मुश्किल है बताना
की यह
यह है वह पत्थर,आवाज़ ,मिटटी
शब्द जो बिकाऊ नहीं है ..."

बाज़ार मनुष्य को आश्रय देने का प्रचार करता है। लैब पर व्यवस्था की रक्षा का भार है, लेकिन यह पूँजीवादी व्यवस्था ने उसे नहीं छोड़ा। बाज़ार ने उसे शक्तिहीन बनाकर खोखला कर दिया है। लैब कवि का मन है जो बाज़ार की चंगुल में फँस गया है । कवि हमें समझाता है कि जिसे तुम अपना शुभचिंतक समझते हो असल में वह तुम्हारा शोषक है। कवि अपना आत्मसंघर्ष कविता के ज़रिये व्यक्त करता है। वह लैब के दुःख को पहचानने में समर्थ है। प्रस्तुत कविता वर्त्तमान समय का पर्दाफाश करती है। देवताले की कविताओं में वर्त्तमान की चेतना है। वे व्यंग्यात्मक स्वर में जनता की सोयी

हुई चेतना को जगाने का प्रयास करते हैं। वे जनता में क्रांति की चेतना जगाने की कोशिश में हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति अपना विरोध प्रकट करने के लिए कवि लोगों को तैयार करते हैं।

" लैब्रडोर
भीतर आ जाओ
देख रहा हूँ तुम्हारे माथे पर
दुःख की सल्वटेन
तुम्हारी चुप्पी का धीरजमेरी
साँसों को दहका रहा है।
....पत्थर की तरह गड़ी नहीं
रहेंगी हमेशा
उनकी आह और कराह
भीतर आओ लैब्रडोर
याद करें हम
ज्वालामुखियों और विस्फोटों
का स्वभाव।"

देवताले जी समाज की कमज़ोर नब्ज़ को पकड़ लेते हैं। आपकी कविताओं में सामाजिक गुण निहित हैं। पहले ज़मींदार, राजा, महाराजा, सामंत आदि आर्थिक शोषण करते थे लेकिन अब पूँजीपति, नेता, अफसर आदि वर्ग खुले आम शोषण कर रहे हैं। कवि मानते है कि बिना क्रांति के बदलाव संभव नहीं है। वे व्यवस्था और राजनीति के विरुद्ध खड़े होकर जनता को अवबोध दिलाते हैं। देश का पूरा वातावरण पूँजीवादी संस्कृति से लिप्त हो चुका है। वर्त्तमान राजनीति केवल पूँजी का साम्राज्य है। वे सत्ताधीशों का ध्यान देश की समस्याओं की तरफ खींचना चाहते हैं। आपकी कविताओं में राजनीति के मुखौटे उजागर हुए हैं। व्यंग्य द्वारा जनता को जागृत करने का प्रयास किया जा रह। है। लैब्रडोर कविता में भी यह दृष्टव्य है। आपने कविता के ज़रिये जनता के दर्द को महसूस किया है। जनता को जीने का रास्ता खुद बनाने के लिए और व्यवस्था के विरोध लड़ने के लिए प्रेरित करना ही उनका लक्ष्य है। विश्वस्तर पर मुक्तबाज़ार खोलने के पीछे साम्राज्यवादी देशों का लक्ष्य केवल पूँजी बढ़ाना है। देवताले राजनीति और राजनेताओं पर खुलकर व्यंग्य करते हैं। व्यंग्य के द्वारा राजनैतिक विसंगतियों को व्यापक फलक पर उतारते हैं। वर्त्तमान में जिस वैश्विक अर्थ व्यवस्था को नियति मान लिया गया है उसने मनुष्य की सारी संवेदनाएं तोड़कर उन्हें बाजारू बना दिया है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने मनुष्य को मूल्यहीन बना दिया, अपसंस्कृति फैलने लगे। पूँजीपति वर्ग जानता है कि यदि वह सर्वहारा वर्ग का साथ देता है तो उसके अपराधी चेहरे भी लोग देखेंगे देवताले पूँजीपति परिवेश के सम्मुख एक जलता हुआ प्रश्न फेंकते हैं –

"क्या तुम भी
ऐसे ही स्तिथप्रज्ञ-समझदार
हो गए हो लैब्रडोर"

■

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. पत्थर की बेंच (मूल ग्रन्थ) –चंद्रकांत देवताले 2.
2. समकालीन कविता के परिप्रेक्ष्य में चंद्रकांत देवताले की कवितायें –डॉ आशा सिंह सिकरवार
3. इक्कीसवीं सदी का हिंदी काव्य – डॉ माधवी जाधव

भूमंडलीकरण के दौर की हिन्दी कविता

डॉ.प्रणीता .पी.
हिन्दी विभाग, कुसाट,केरल

भूमंडलीकरण एक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैश्विक प्रक्रिया है, जिसमें बाज़ारी ताकतें इतनी शक्तिशाली होती हैं कि उनका प्रभाव जीवन के हर क्षेत्र में देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में बताये तो भूमंडलीकरण व्यापार, विदेशी प्रत्यक्ष निवेश, पूँजी प्रवाह, प्रवास और प्रौद्योगिकी के प्रसार के माध्यम से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अन्तरराष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं में एकीकरण है। काटो संस्थान (Cato Institute) के टॉम जी पालमर (Tom G. Palmer) भूमंडलीकरण को निम्न रूप में परिभाषित करते हैं-

" सीमाओं के पार विनिमय पर राज्य प्रतिबन्धों का ह्रास या बिलोपन और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न हुआ उत्पादन और विनिमय का तीव्र एकीकृत और जटिल विश्व स्तरीय तन्त्र।"[1] इसका क्षेत्र किसी एक देश के मात्र आर्थिक पक्ष तक सीमित नहीं, इसके अंतर्गत संस्कृति, मीडिया, तकनीक तथा सामजिक, सांस्कृतिक गतिविधियों और यहाँ तक कि पर्यावरणीय गतिविधियों,जैसे जलवायु परिवर्तन संबंधी मुद्दों को भी शामिल किया गया है ।

पिछले तीन दशकों से भूमण्डलीकरण की चर्चा सर्वत्र मुखरित है। तमाम साहित्यिक, राजनीतिक और आर्थिक बहसों में जाने और अनजाने आनेवाला शब्द है- भूमण्डलीकरण। 'वैश्वीकरण', भूमण्डलीकरण 'उदारीकरण' या 'विश्वग्राम' जैसे शब्द हमारे 'वसुधैवकुटुम्बकम्' या 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे भवन्तु निरामयः' जैसे लुभावने नारे के समान बहुत ही सहजता के साथ प्रस्तुत किया गया था।

पर लगभग तीन दशकों के अन्तराल में हमने पाया कि यह पूँजीवाद और उपनिवेशवाद का दूसरा रूप है। विद्वानों ने पहले ही सूचित किया था कि यह सार रूप में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक समझौत्ते की स्वीकृति के तहत राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का एकीकरण है, जिसमें पूँजी का प्रवाह गरीब से अमीर और गरीब देशों से अमीर देशों की ओर होगा। जहाँ तक देश के अन्दर की स्थिति का सवाल है, अपने मौजूदा स्वरूप में वह सर्वजनहिताय नहीं है। लेकिन आमजन की कीमत पर राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय अभिजनों के शुभ-लाभ के लिए है। इस बात की ओर संकेत करते हुए कथाकार संजीव ने अपने एक वक्तव्य में कहा है- "अगर भूमण्डलीकरण सबकेलिए होता तो आंध्र में जहां सिलकन वाली चमक रही है ,वहां किसान आत्महत्या न कर रहे होते ,सेंसेक्स 8500 का सर्वकालिक आंकड़ा पार कर रहा होता ,वहीं तीस करोड़ से ज्यादा लोग गरीबी रेखा के नीचे कीड़े मकोड़े न बने रहते । जहां दुनिया के 5 प्रतिशत लोग 85 प्रतिशत भू संपदा का उपयोग कर रहे हैं,वहां सर्वाधिक गरीब लोगों के हिस्से में मात्र 1:4 प्रतिशत सम्पदा ही न आती।"(2) पिछले दशकों में लिखी गयी कविताओं पर विचार करें तो एक ओर वैश्वीकरण से सीधी मुठभेड करती कविताएँ हैं , तो दूसरी ओर लीक से हटकर वैश्वीकरण का चित्रण करनेवाली कविताएँ भी हैं । दिनकर कुमार की कविता 'भूमण्डलीकरण', राकेश रोहित की कविता 'बाजार के बारे में कुछ विचार', पंखुरी रॉय की 'बोर बाज़ार', सुशील कुमार की 'कविता और बाजार'.... आदि वैश्वीकरण के हावी होने की ओर इंकित करती कविताएँ हैं । दिनकर कुमार की कविता 'भूमण्डलीकरण' बाज़ार किस प्रकार आदमी के जीवन के हर कोने में सेंध लगा रहा है, इसकी ओर संकेत देती है। अब हमारे नगर और महानगर ही नहीं हमारे कस्बे और गाँव भी बाजार बन गये हैं। आयातित गेहूँ, दाल और दूसरी तमाम चीजें अदृश्य रूप से हमारे देशी उत्पन्नों के साथ लिपटी हुई हैं। दूकान पर रंग-बिरंगे पैकटों के रूप में भूमण्डलीकरण अपनी उपस्थिति का अहसास कराती है। हमारे आचरण में, हमारे संबन्धों में, वार्तालाप में, हमारे जीवन के हर पल में भूमण्डलीकरण दखल देता रहता है। "हमारे रसोई घर में भी रहने लगा है / भूणण्डलीकरण/ अनाजों के साथ-अदृश्य रूप से लिपटा हुआ / आयातित गेहुँ और दाल और दूसरी तमाम चीजें /

कराती है / अहसास / उसकी उपस्थिति की परचून की दुकान पर रंग बिरंगे पैकड़ों में मुस्कुराता रहता है भूमण्डलीकरण/.. हमारे साथ कंधे से कंधा मिलाकर / भीड में भी चलता रहता है भूमण्डलीकरण / हमारे लोकाचार में, हमारे संबन्धों में हमारे वार्तालाप में, हमारी स्वामोशी में (3)

बाजार से संबन्धित बुनियादी सच यह है कि यहाँ सारी चीजें बेचने योग्य माल मात्र हैं। प्राकृतिक संसाधनों से लेकर हमारी परम्परा, सांस्कृतिक धरोहर, बच्चे, स्त्रियाँ यहाँ तक कि हमारे सपने तक माल में परिवर्तित हो गये हैं। ज्ञानेन्द्रपति अपनी कविता 'बेच खरीद के इस जमाने में' में कहते हैं - "चली आती हैं आईनस्टाइन की अगाध आँखें / नीलामी पर चढ़ने उनकी बगल में पिकासों की यशस्वी कूची है और एलविस प्रेस्ले का वीर्यस्व जोधिया / एक दिन नीलामी की ऊँची टेबुल पर, काठ के हथौड़े के नीचे / कौन जाने जो तुम्हारे बच्चों के अस्फुट मेधावी मस्तिष्क की बगल में हो/ बॉन गॉग का कटा कान और ब्रह्म का चित्र पाँचवा शीष / दूसरी ओर पड़ा है टूथपेस्ट का सुहाना विज्ञापन पटा'(4)

हमारे बीच अब भी ऐसे लोग है, जो इस खुरदुरे समय में भी सब कुछ को खूबसूरत समझते हैं। उनकेलिए कुछ भी कुरूप नहीं है। अपनी खूबसूरती से परेशान लडकी सबकुछ बेचने के साथ अपने आप को बेचने के लिए तैयार है। भूमण्डलीय दुनिया में यही चुनाव की स्वतंत्रता है। लेकिन बात यह है कि बाज़ार की कुरूपता इन सभी खुरदुरेपन को विनम्रता से ढक लेती है। आज के इस बाज़ार में हर एक की नियति अपनी जेब से जुड़ा हुआ है। इस दृष्टि से आप संपन्न हैं तो ही आप का स्वागत है इस विश्वगाँव में। राकेश रोहित अपनी कविता में, विचारों के अन्त के इस समय में, बाज़ार के सर्वव्यापी होने के साथ- साथ मनुष्यता के अंत की घोषणा भी करते हैं। "बाज़ार में कुछ लोगों की इतनी चिन्ता है कि सब कुछ एक खूबसूरत व्यवस्था की तरह दिखता है/ कुछ भी कुरुप नहीं है, इस खुरदुरे समय में / और अपनी खूबसूरती से परेशान लडकी/, जो थक चुकी है बाज़ार में अलग-अलग चीजें बेचकर / अब खुद को बेच रही है/यह है उसकी चुनाव की स्वतंत्रता / सब कुछ ढक लेती है बाज़ार की विनम्रता/ /....सारे वाद-विवाद से दूर बाजार का एक खुला वादा है कि कुछ लोगों का हक कुछ से ज्यादा है। और आप किस ओर हैं/ यह प्रश्न / आपकी नियति से नहीं,

आपकी जेब से जुडा है। .... यदि आप समर्थ हैं तो आपका खागत है उस वैश्विक गाँव में जो मध्ययुगीन किले की तरह खूबसूरत बनाया जा रहा है/.........बाज़ार वहाँ भी है/सदा आप की सेवा में तत्पर / क्योंकि बाजार विचार की तरह नहीं है/ जो आप का साथ छोड़ दे/विचार के अकाल या अंत के दौर में बाजार सर्वव्यापी ही अंत है।"(5)

भूमण्डलीकरण के समर्थकों का तर्क यह था कि इससे एक नयी अर्थव्यवस्था निर्मित होगी, जो विकसित देशों और तीसरी दुनिया के देशों के बीच की आर्थिक खाई को पाट सकेगी। लेकिन हम देखते आ रहे हैं कि निम्नवर्ग को अपने हिस्से की भूख के अनुसार भात नहीं मिल रहा है। के.एफ. सी., पिजाहट जैसे जगह मध्यवर्ग का सपना है। दुनिया भर की सामग्री आज बाज़ार में उपलब्ध है। लेकिन वह सबके हिस्से की चीज नहीं है। "अपने हिस्से में लोग आकाश देख रहे हैं" में विनोद कुमार शुक्ल बताते हैं- 'अपने हिस्से की भूख के साथ सब नहीं पाते है अपने हिस्से का पूरा भात/ बाजार में जो दीख रही है/ तंदूर में बनती हुई रोटी/सबके हिस्से में बनती हुई रोटी - नहीं है/ जो सब की घड़ी में बज रहा है, वह सबके हिस्से का समय नहीं है इस समय।(6)

बाजार के जादू को उमाशंकर चौधरी ने 'तुम्हारी अपनी संस्कृति' में योव्यक्त किया।

"तुम जानते हो कि बाज़ार के पास अपनी इच्छाओं को मनमाने के कई तरीके है/ तुम यह भी जानते हो कि अपने मिजाज में वह / शातिर है, और उसके पास/ अपना गुलाम बनाने के कई ट्रिक हैं/ सब कुछ जानते हो /फिर भी तुम बच नहीं पाते हो।"(7)

मदन कश्यप अपनी कविता 'जोकर' में बाज़ार में खुद जोकर बन रहे आम- आदमी पर व्यंग्य करते हैं। लोग अब बाज़ार के प्रति इतने आकर्षित हो गये हैं कि वह अपने सभी कार्यभार जल्दी ही खतम करके किसी न किसी प्रकार बाजार पहुँचना चाहते हैं, और पूरा बाजार खरीदकर अपने घर में लगाना चाहते है। साथ ही पूरे बाज़ार से सजाये घर को, दुनिया के सबसे खूबसूरत ताले से बाँधकर दुनिया के सबसे ताकतवर आदमी को अंगरक्षक बनाना चाहते हैं। "यह जल्दी पूरा करना चाहता है। अपना सभा कामकाज / अब सब कामकाज । आज का बाज़ार बंद होने से पहले / पूरा बाज़ार खरीद लेना चाहता है/ अपने घर में लगाना चाहता

है/दुनिया का सबसे खूबसूरत ताला / दुनिया के सबसे ताकतवर आदमी को / बनाना चाहता है अपना अंगरक्षक/ कहीं बहुत दूर पीछे छूट गया है। अब/तिरपनमे पत्ते का सुकून।"(8)

विश्व भर में यूरोप के फैलाव को दर्शानेवाली कविता है 'यूरोप' दुनिया भर के देशों को अपनी मुट्ठी में रखने और वहाँ के समस्त संसाधनों को, संस्कृति को हथियाने के लिए विश्व व्यापार संघ एवं अंतर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की सहायता से भूमण्डलीकरण, उदारीकरण एवं बाजारीकरण के द्वारा अमरीका ने बहुआयामी जाल बिछाया है। अपनी परम्परा, अपनी संस्कृति एवं अपनी अस्मिता को नष्ट कर यूरोप के इस विचार बाजार में भटकनेवाले भारतीयों से कवि पूछता है कि क्या यह मुल्क भूमण्डलीकरण की डुगडुगी बजानेवाले मदारियों का है या जाति धर्म का जहर बेचनेवाले सपेरों का? आज के इस दुस्समय में चारों ओर दिखाई पडनेवाली प्रत्येक घटना पर वे प्रश्नचिह्न लगाते हैं- "यह किस भूखण्ड में आ गया हूँ में / चेहरों पर खुशहाली केपोस्टर चिपकाए / भुक्खड लोग कौन हैं/ क्यों इतने ज़ोर ज़ोर से हँस रहे हैं - वे लोग /जिनकी ये मुस्कानें पहले ही गिरवी रखी जा चुकी है ...... क्या सचमुच यह मूलक उन मदारियों का है जो बेच रहे हैं जाति-धर्म का ज़हर / उसे बेचने दो अपनी चादर / और उसे अपनी पगडी / है गुनवंती / में नहीं बोलूंगा अपने शब्द-अर्द्धसंशयवादी और अर्द्धआत्मुग्ध/ यूरोप के विचार बाज़ार में।(9)

किसी भी संस्कृति का सबसे बडा स्रोत भाषा है। अपसंस्कृतीकरण के दौर में भाषा की लाचारी यों व्यक्त होती है।कवि 'क्षमा याचना' कविता में "अब जबकि खो चुकी है आदमीयत अपना मानी/ हम न तो इस नृशंसता को नया अर्थ दे पा रहे हैं। ना ही नये निहितार्थी को कोई शब्द ..... सच कहें. तो आम के पहले कभी इतनी लाचार नहीं हुई थी हमारी भाषा" (10) "गनीमत" कविता में कवि यों व्यंग्य करता है,"गनीमत है कि पृथ्वी पर अब भी हवा है और हवा मुक्त है/गनीमत है/कि. कहीं कहीं लगे है निशुलक प्याऊ / और कोई कोई पिला देता है बिना पैसे पानी।

गनीमत है कि बिना कुछ दिए समुद्र को छू सकते है/सूर्योदय और सूर्यास्त के दृश्य देख सकते हैं/गनीमत है कि गनीमत है।"(11)

संवेदनाओं पर लगातार आनेवाले ह्रास के प्रति चिन्ता 'फाँव' नामक कविता में अभिव्यक्त हुई है। इस

भयावह समय के प्रति जो चिन्ता पिछली कविताओं में प्रकट हुआ है, यहाँ कवि उसका विकल्प ढूंढता है। हिमानी होती जा रही दुनिया में, 'दही में थोड़ी-सी चीनी' की तरह प्राची मानवीयता के प्रति कवि आशावान है- "जब कुछ हाथ आ जाता है फाँव में तो उसकी छुअन सीधे आत्मा तक पहुँचती है यह महज मुफतखोरी नहीं है / एकदम फोकट में नहीं मिलता फाँव / कुछ खरीदने के बाद ही कुछ मिलता है/ अक्सर फाँव देते है वे लोग जो महज प्रीच के विक्रेता नहीं होते/वे खेतों में ख्ययं उगाते है फल सब्जियों/ तालाब से निकालते है सिंघाडे मखाने / और बाजार की गलाकाट संस्कृति से एकदम अलग / जब उन्हें - सौंपते हैं किसी क्रेता को /.......वे डाल देते है झोले में थोड़ा-सा फाँव/ जैसे विदा होती बेटी के खाँइछे में/माँ बाँध देती है थोड़ा-सा अन्न द्रव्य।" (12)

मनोज मेहता की कविता 'प्रलय' प्रतीकात्मक ढंग से हमारे 'अपनेपन' या स्वत्व के अंत की घोषणा कर रही है। कविता में कवि कबीर के मिथक को याद करते हैं। भूमण्डलीकरण के दौर में अपने स्वत्व और हमारी समृद्ध परम्परा से ऊर्जा आत्मसात् करने की प्रेरणा निश्चय ही कवि की सामाजिक चेतना का परिचय देता है - "चीजें लगातार दूर होती जायेगी/हाथों से छिपकर मिट्टी के दिये की लौ/ नियॉनलाइटों में दुबक जायेगी/ और मीरा उतार नहीं पायेगी। आरती ठाकुरजी की।.... अदरक का स्वाद/ दूर आसमान से लालचायेगा/और हल्दी का सारा रंग/ हमारे चेहरे निचुड जायेगा /जिसे कैसे भी / पोंछ नहीं पायेगी / कबीर की कुचैली चादर (13)

भारतीयों के लिए गंगा, महज एक नदी न होकर हमारी सभ्यता, संस्कृति और आस्था का प्रतीक है। लेकिन इस उत्तर आधुनिक समय में सब कुछ बाज़ार है। साहित्य, कला, संस्कृति, भाषा, नदी..... सब बाज़ार के हवाले हैं । बहुराष्ट्रीय कंपनी के बहु प्रचारित साबुन के विज्ञापन में दर्शायी गंगा की झाँकी प्रस्तुत करते हुए कवि ज्ञानेन्द्रपति यहाँ पूँजीवाद की महावली झाग द्वारा भारतीय संस्कृति प्रदूषित होने की बात कहते हैं। हम सब जानते हैं कि औद्योगिक कचरे के साथ साथ प्लास्टिक कचरे की बहुतायत ने गंगा जल को बेहत प्रदूषित किया है और मोक्षदायिनी गंगा अब विलुप्त होने के कगार पर है।

ज्ञानेन्द्रपति ने 'गंगातट' में भूमण्डलीकरण के आक्रमण को यों प्रकट किया है- "एक नीली साबुन बट्टी/वह

एक बहुराष्ट्रीय कंपनी का बहुप्रचारित साबुन 'नदी और साबुन' बहुविज्ञापित साबुन के समक्ष गंगा भी भयभीत है जैसे "दुखियारी महतारी गंगा/ उसका जी काँपता है डर से / उसकी प्रतिद्वन्द्वी हथेली भर की वह जो साबुन की टिकिया है। इजारेदार पूँजीवाद की बिटिया है/ असका महाबली झाग उठने से पहले/ गंगा के दिल में होल उठता है।(14)

ग्लोबल गाँव में नष्ट होती ग्राम्य अवधारणा की ओर कवियों ने संकेत किया है। अब न ही गाँव की वह स्वायत्त व्यवस्था रहेगी, न ही उसका कोई सही और स्वस्थ रूप बदल कर आयेगा। रोहित कश्यप अपनी कविता 'गाँव से गाँव गायब' में कहते हैं - "कोल्हु का प्रोल गायब है कोल्हू से / गन्ने से गायब है रस / गुड से वह मिठास गायब है जैसे गायब है बोलचाल से मीठापन/गुडगुडाहट से निकलता / सहकारिता का संगीत गायब है/गायब है नुक्कड़ से पनघर / हवा से गायब है शुद्धता/ गायब है कड़ियाँ छत से जमीन से गोबरी गायब है मिट्टी से गायब है सोंधापन | गायब है रोटी और साग से मिट्टी के चुल्हे की गर्माहट चुल्हे पास / परिवार संग मिल-बैठ/ खाने का रिवाज गायब है/होने और गायब होने के बीच से /जो गायब नहीं होना था वह सब कुछ गायब है। इसलिए तो गाँव से गाँव गायब है।"(15) खेत की बरबादी और किसान की आत्महत्या पर लिखी गयी उमाशंकर चौधरी की कविता है 'किसान बैठा है खेत की आड पर' 'वह बूढा किसान जिसके खेत में पड़ चुका है सूखा / जिसकी फसल हो चुकी है सुखकर खर पतवार / जिसके जवान बेटे ने अपने पीछे/पत्नी और दो बेटियों को छोड़ लगा दिया है गले में फंदा ।"(16)

किसान जो भारतीय समाज का मेरुदंड पहले भी था, और आज भी है, उसका कोई साबुन नहीं बचा है। वे औपनिवेशिक व्यवस्था का सर्वाधिक शोषित एवं उत्पीडित वर्ग है। उन्हें अब देशी बीजों तक से विहीन बनाने का खेल चरम पर है। अपने देशी बीजों की जगह बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने नये जीवन गिरा रही हैं। हमारे दशी सांति कुटकी और बजरे की जगह अब सोयाबीन का साम्राज्य फैला पड़ा है। हमारा परंपरागत खेत अब 'फॉम हाउस' में परिणत हो रहा है।देशी बीजों पर होनेवाले अतिक्रमण को सुशील कुमार ने 'नये बीज का बीजगणित' नामक कविता में इसप्रकार पंक्तिबद्ध किया है।

"तमाम असहमतियों के बीच किसानों ने अपने घुटने टेक दिये है/ नये बीज के करार पर/ सरकार ने दस्तखत

कर दिये हैं/ बहुराष्ट्रीय कंपनियों खेतों में / अब नये बीज गिरा रहे है/ नये बीज अपने साथ / नये संयंत्र, नयी तकनीक लाये हैं/खेत फामहाऊस में तब्दील हो रहे हैं। परंपरागत खेती दम तोड़ रही है/ क्योंकि जमीन सिर्फ अपनी है/मण्डी तो उनकी है।"(17) क्योंकि बीज भी उनका है।रासायनिक उर्वरकों के माध्यम से जमीन को बंजर बनाने के साथ ही जलस्रोतों पर भी आक्रमण तेज है। हमारे देशी बीजों, आमला, देशी आटा आदि - पर पेटन्ट ले रहे हैं। 'केरल' जिसे अपने केरवृक्षों के कारण ही अपना नाम मिला है, जो अपनी पहचान है, वही केर वृक्ष हमसे अलग हो जाय तो हमारा अस्तित्व ही क्या है? कुमार अंबुज 'सभ्यता के उत्तर औपनिवेशिक समुद्र में' आयुर्वेद को डूबते हुए पाते हैं- 'हरे, बेहडा, आँवला, सौंठ, तुलसी, पीपल/पर्याबरण ही आयुर्वेद चार रुपये का आंवला बिक रहा है सौ रुपये में/चरक धूम रहे हे बौखलाए हुए पठारों पर पूछते हुए नीम का पत्ता" (18)।

इसप्रकार मंगलेश डबराल की कविता 'घर का रास्ता' राजेश जोशी की कविता 'अपना घर ढूँढना' के साथ घर से जुडी कई अन्य कविताओं को एक साथ पढ़ने से कवियों की घर से दूरी मालूम पडती है। अब घर एक स्मृति है । यह घर से विस्थापन भी है और भारतीयता पर मार भी। अष्टभुजा शुल्क की कविता में कवि अगाह करती है कि "साथी अपना गाँव रखना / चौकस, इस दुर्दान्त काल का कोई ठिकाना / पाँच सितारों की चकमक में घर को भूल न जाना।" चन्द्रकांत देवताले 'गाँव तो थूक नहीं सकता था मेरी हथेली पर' में गाँव की पुरानी स्मृतियों में डुबकियाँ लगाते दिखता है - "छुटिया होने से उन छुटियों की याद आ रही है। दशकों पहले में नियमपूर्वक छुट्टियों में गाँव जाता ही था / दो दिन तो पाँव पडने जाने में ही बीत जाते आजी मामा, मामी, काका काकी, मौसी बुआ / किसी विराट बरगद से कम नहीं थी / वंशवृक्ष की टहनियाँ / मैं अपने खेत की हदों को इस तरह देखता था / जिसतरह किसी राजा ने भी / अपने राज्य कि सीमा को नहीं देखा होगा...(19)

आज की बाजार केन्द्रित दुनिया में अपनापन, खो जाती चीजों की अफरा- तफरी, मानव का वस्तु में परिणत हो जाने और हमारे पारंपरिक बाजारों के उत्तराधुनिक मण्डी में बदल जाने के भयावह दृश्य को देखकर कवि यहाँ हैरान होते हैं । लीलाधर मंडलोई

अपनी कविता 'कस्बे की दुकान' में बताते हैं - "यह अकस्मात् ही हुआ कि अपनी औकत से बाहर इस सदी के उत्तर प्रायोजित बाज़ार के कुतूहल में अकस्मात् पहूचा / चिज़ों की अफरा-तफरी का रोमांच था, वस्तुएँ शोर के रेलमपेल में व्यस्त थी। मैं ने देखा औकात से बाहर के इस बाज़ार में, मेरा होना एक ऐसी वस्तु में तब्दील हो गया कि जिसे कस्बे की किसी दूकान में फेंका जा सके/ कस्बे की दुकान में मनमोहन जी हाथ जोड, मेरी आने की प्रतीक्षा कर रहे है, मेरा कस्बा इस तरह पारंपरिक बाज़ार में उत्तर आधुनिक काऊटर हुआ।(20)

भूमण्डलीय पूंजीबाद ने संपूर्ण विश्व को एक ग्राम में बदल दिया है। इससे स्थानों की अपनी स्वतंत्र पहचान मिट रही है। स्थानिक बिशेपताएँ घट रही हैं। वह समय बीत चुका है, जब जनपदों का अपना महत्व था । त्रिलोचन अपने को एक विशेष जनपद के कवि कहते थे। यह देश प्रदेश, नगर सबके तेजी से बदलने का समय है। अलोक धन्वा 'सफेद रात' नामक कविता में कहते हैं - "लखनऊ में बहुत कम बच रहा है लखनऊ/इलाहाबाद में बहुत कम इलहाबाद / कानपुर और बनारस और पटना और अलिगढ़ / अब इन्हीं शहरों में कई तरह की हिंसा, कई तरह के बाजार / कई तरह के सौदाई/ इनके भीतर / इनके आसपास / अब - वह भारत भी नही रहे। जिसमें जन्म लिया"(21)

वित्तीय पूँजीवाद, बाज़ारवाद एंव भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया के तहत बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा विभिन्न प्रकार की उपभोक्ता सामग्री का आविष्कार कर तथा उन्हें लोगों की आवश्यकता का जनक बनाकर आज जो अंधाधुंध मुनाफा कमाया जा रहा है, उन पर किसी न किसी रूप में हमारे बच्चों के नन्हे नाजुक हाथों के खूनी धब्बे अवश्य मौजूद हैं। अपने शासन काल में प्रत्येक सरकार बच्चों के लिए ढेर सारी योजनायें बनाती हैं। कई स्कूल खोले जाते हैं, स्कूलों में ढेर सारी किताबें बाँटी जाती हैं। लेकिन फिर भी कई बच्चे चारों ओर प्यालियाँ धोते हुए, पेशाबघर साफ करते हुए और तमाशे खाते हुए दिखाई पड़ते हैं। विकसित देशों की सूची में स्थान पाने को लालायित भारत के सामने यह बात एक सवाल बनकर खड़ी है। राजेश जोशी भी अपनी कविता में बच्चों के काम पर जाने के विरुद्ध खड़े होते हैं- राजेश जोशी की कविता देखिए, "बच्चे काम पर जा रहे हैं,'हमारे

समय के सबसे भयावह पंक्ति है यह / भयावह है इसे विवरण की तरह लिखा जाना / लिखा जाना चाहिए इसे सवाल की तरह काम पर क्यों जा रहे हे बच्चे।'(22)

इसप्रकार आज के कवि भूमंडलीकृत समय के अन्तर्विरोधों से जूझकर संकटपूर्ण स्थिति से उभरने की कोशिश में हैं। लगभग तीन दशकों से पूंजी बाजार और टेकनोलजी के दबदबे, मनुष्य के अनुभव जगत के दायरों पर अभूतपूर्व ढंग से हस्तक्षेप करते आ रहे हैं। मनुष्य के रहन-सहन, खान-पान, दैनिक गतिविधियाँ मूल्य चेतना - सब कुछ आज बाजारी शक्तियों के निशाने पर हैं। दुनिया एवं मानव जीवन के प्रत्येक भटकन के प्रति आज के कवि जागरूक हैं। इसलिए अपनी कविताओं के माध्यम से कवि लोग अपना प्रतिरोध एवं प्रतिवाद प्रस्तुत कर रहे हैं। ■

संदर्भ

1.टॉम जी पालमर, वरिष्ठ सहकर्मी, काटो संस्थान,वैश्वीकरण महान है !

Archived 2005-05-29 at theWayback Machine

2) संजीव, भूमण्डलीकरण और हिन्दी कहानी नामक लेख

3) दिनकर कुमार, भूमण्डलीकरण

4) ज्ञानेन्द्रपति, बेच खरीद के इस ज़माने में

5) राकेश रोहित, बाज़ार के बारे में कुछ विचार

6) विनोद कुमार शुक्ल, अपने हिस्से में लोग आकाश देख रहे है

7) उमाशंकर चौधरी, तुम्हारी अपनी संस्कृति

8) मदन कश्यप, जोकर

9) मदन कश्यप, यूरोप

(10) मदन कश्यप, क्षमायाचना

11) मदन कश्यप, गनीमत

12.मदन कश्यप, फाँब

13.मनोज मेहता, प्रलय

14. ज्ञानेन्द्रपति, गंगातट

15. रोहित कश्यप, गाँव से गाँव गायब

16. उमाशंकर चौधरी, किसान बैठा है खेत की आड़ पर

17. सुशील कुमार,नए बीज का बीज गणित

18. कुमार अम्बुज, सभ्यता के उत्तर औपनिवेशिक समुद्र में

19. चन्द्रकान्त देवताले, गाँव तो थूक नहीं सकता था मेरी हथेली पर

20. लीलाधर मंडलोई, कसबे की दूकान

21. अलोक धन्वा,सफेद रात

22. राजेश जोशी, बच्चे काम पर जा रहे हैं

दलित समाज की गूँज और अनुगूँज : 'न समझे जाने का दर्द' के संदर्भ में

डॉ.श्रीनिता पी.आर.
पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय, कार्यवट्टम, तिरुवनंतपुरम

भारत एक बहुसांस्कृतिक देश है। भाषा, धर्म, नस्ल, जाति, त्योहार, परंपरा, रीति-रिवाज़ आदि अनेक स्तरों पर विभिन्नता यहाँ की संस्कृति की विशेषता है। यानी भारत बहुलता का देश है। बहुजातीय एवं बहुधर्मी परिवेश के कारण भारत के सामाजिक स्तरीकरण का माहौल पैदा हुआ। उच्च तथा निम्न वर्गों में जनता का श्रेणी विभाजन हुआ। समाज में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था तथा ब्राह्मणवाद ने यहाँ जाति-पाँति, छुआछूत या अस्पृश्यता आदि संवेदनहीन प्रवृत्तियों को जन्म दिया। सामाजिक असमानता तथा जातिगत भेद भावके कारण कुछ लोग समाज की मुख्यधारा से अलग हो गए। वे हमेशा अपने अधिकारों से वंचित रहे, शोषित रहे।

वैश्वीकरण व नवउपनिवेशवाद का दोहरा प्रहार अधिकांशतः समाज की निचली जाति पर ही पड़ा था। भूमंडलीकृत दुनिया में जनता की अपनी संस्कृति तक खरीदकर उन्हें बर्बर साबित करने का षड्यंत्र कॉर्पोरेट शक्तियाँ एवं मल्टीनेशनल या बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ रचती हैं। वे पूरे संसार को नवउपनिवेशिकता के कुचक्रों के भीतर रख देती हैं। इन कॉर्पोरेट शक्तियों का हस्तक्षेप आम जनता के जीवन के हर पहलू पर दिखाई देता है। वे निम्न वर्ग के लोगों को तुच्छ मज़दूरी देकर उनकी मेहनत का शोषण करती हैं। साथ ही उन्हें सभ्य बनाने का नकली वादा करके उनकी निजी संस्कृति एवं उनकी अस्मिता को खतरे में डाल देती हैं। मानसिक

तौर पर इन पीड़ित जनों को अपना गुलाम बना देती हैं।

दलित व मज़दूर जन गरीबी एवं भुखमरी के साथ-साथ जाति-व्यवस्था के दुष्परिणामों के भुक्तभोगी भी रहे। सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्तरों पर उन्हें विषम परिस्थितियों को झेलना पड़ा। समाज के उच्च वर्ग द्वारा रूपायित वर्चस्व के स्वभाव से वे उत्पीड़ित रहे। निरंतर तंग करने वाली शोषण तथा दमन की प्रवृत्ति को सह न सकने के कारण, वे संघर्ष व विद्रोह की ओर आगे बढ़े। प्रतिरोध करके समाज में अपनी एक अलग पहचान बनाए रखने में वे सचेत हुए।

ज्योतिबा फुले और डॉ. बी.आर अंबेडकर द्वारा महाराष्ट्र में चलाए गए आंदोलनों ने दलितों को उनकी अस्मिता के प्रति सजग किया। सामाजिक असमानता, आर्थिक विषमता तथा अमानवीय व्यवहारों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए वे आगे आए। हाशिए से केंद्र की ओर आकर अपनी अस्मिता या पहचान की खोज करने लगे। अपने अधिकारों के लिए सजग होकर कार्य करने लगे। समाज के केंद्र में खुद को स्थापित करने के लिए वे उद्यत रहे। तत्कालीन साहित्य में भी इन सामाजिक बदलावों का प्रतिफलन हुआ। दलित साहित्य भी इसी प्रकार उभर आया। साहित्य में जो परिवर्तन दिखाई देते हैं, वे तत्कालीन सामाजिक परिवर्तनों के ही परिणाम होते हैं। "साहित्य का अस्तित्व और उसके विकास की गति समाज सापेक्ष होती है। साहित्य संबंधी परिवर्तन सामाजिक परिवर्तनों से प्रेरित और प्रभावित होते हैं। "[1]

अतः समाज में दलितों के विरुद्ध किये जाने वाले अन्यायों एवं अत्याचारों के प्रति जो कार्य दिखाई देने लगे, वे सब दलित साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुए हैं। दलितों के दुख-दर्द-पीड़ाओं का पर्दाफाश करने के साथ- साथ, उनका प्रतिरोध भी चित्रित करने वाला साहित्य ही दलित साहित्य है। यानी दलित जीवन का वास्तविक चित्रण दलित साहित्य में पाया जाता है। दलित जीवन का प्रतिफलन साहित्य की विभिन्न विधाओं द्वारा हुआ है। उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं दलित कविताएँ, जो जीवन की सच्चाई को प्रतिबिंबित करनेवाली हैं।

दलित कविता का प्रमुख मकसद, दलितों की हीनता ग्रंथि को दूर करना है। उनकी वेदना देखकर सहानुभूति प्रकट करना उन्हें पसंद नहीं। सवर्ण साहित्य दलित जीवन की

विडंबनाओं को प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुआ। दलित के सिवाय चाहे कोई भी उनकी वेदना की अभिव्यक्ति करे तो वह प्रमाणिक नहीं रहेगा। क्योंकि दलितों के भोगे हुए कष्टों की सही तस्वीर तभी मिलेगी जब दलित कवि ही उन पीड़ाओं को प्रस्तुत करेंगे। ईश्वर के नाम पर मानव के वर्गीकरण पर दलित कविता में तीखा प्रहार किया जाता है। दलित कविता मनुष्यता की माँग करती है। दलित को भी कम-से-कम मनुष्य समझा जाने का आक्रोश उनकी कविताओं में शब्दायमान होता है। उच्च वर्ग तथा सत्ताधारियों के शोषण के खिलाफ़ क्रांति मचाने का आह्वान उनकी कविताओं में पाया जाता है। अपने प्रति आँसू बहाने वालों से वे घृणा करते हैं। ये आँसू उनको कमज़ोर बनाने के उद्देश्य से ही बहते हैं। इसलिए वे इस प्रकार की नकली अनुकंपा को नज़रंदाज़ करते हैं। हिंदी के समकालीन लेखक डॉ.नामदेव की कविताएँ भी दलितों के जीवन-यथार्थ को प्रस्तुत करने वाली हैं। 'ज्योतिबा फुले : सामाजिक क्रांति के अग्रदूत', 'दलित चेतना और स्त्री विमर्श', 'आलोचना की तीसरी परंपरा और डॉ. जयप्रकाश कर्दम' आदि कई रचनाओं द्वारा दलित साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त लेखक हैं, डॉ. नामदेव। उनके 'न समझे जाने का दर्द' काव्य संकलन की कविताओं का जिक्र यहाँ किया गया है।

वैश्वीकरण एवं बाज़ार के बढ़ते प्रभाव से दुनिया की सारी चीज़ें यहाँ तक कि मानवता भी बिकाऊ की चीज़ हो गयी है। भूमंडलीकृत दुनिया में रहने के नाते, दलित होने के नाते तथा स्त्री होने के नाते दलित स्त्री को तिहरा या ट्रिपल नुकसान झेलना पड़ता है। वह घर, परिवार, रिश्तेदार, समाज तथा बाज़ार का शिकार बनी रहती है। जिस तरह सब कुछ खरीदा या बिक दिया जाता है, ठीक उसी तरह दलित स्त्री भी बिक्री की गुलाम बन जाती है। 'आंखें तुम्हारी' कविता इस तथ्य को साबित करती है कि विज्ञापनों की दुनिया में दलित स्त्री के सौंदर्य को विज्ञापन का माध्यम बना दिया जाता है। वे उसे केवल उपभोग की वस्तु समझते हैं। सौंदर्य के पुराने प्रतिमानों के प्रयोग मे स्त्री के मनुष्य होने की पहचान नष्ट हो जाती है और उसका सौंदर्य विज्ञापित हो जाता है।

"विज्ञापित हो जाता है
सौंदर्य तुम्हारा
बन कर रह जाती हो तुम
उपभोग की बाज़ारू उत्पाद
फिर बाज़ार में तो
खरीदा जा सकता है कुछ भी!"[2]

दलित स्त्री के मन में भी समाज में स्वतंत्र रूप से जीने की इच्छा होती है। वह अपने सपने, जीवन आदि पर बातें करना चाहती है। अपने जीवन को सुदृढ़ बनाने के लिए बहुत कुछ करना चाहती है। लेकिन अपने आसपास के लोगों और रिश्तेदारों की कुटिल बुद्धि पहचान कर वह कालांतर में खामोश हो जाती है। लेकिन उसकी खामोशी में प्रतिरोध की चिंगारी छिपी रहती है। वह जीवन की लड़ाई के लिए ताकत बटोरने की क्षमता रखती है। जीवन की विसंगतियाँ ही उसे यह रास्ता दिखा देती हैं। 'लेकिन खामोशी' कविता इस यथार्थ को अनावृत करती है।

"लेकिन! खामोशी को झटककर
तुरंत तुम
गर्व भरी मुस्कान से
हृदय में भरे तूफान से
व्यथा के काले बादलों को चीरकर
जीवन संग्राम में हो जाती हो संलिप्त।
सच में! खामोशी तुम्हारी करती है बयां बहुत कुछ!"[3]

दलित कविताएँ दलित स्त्री के मन में संघर्ष एवं विद्रोह का भाव जगाती हैं। उसे केवल 'मांस पिंड' मानने वाली निकृष्ट संस्कृति, मतलबी संसार, कपट मानवता, मुनाफ़ाखोर बाज़ार, संकीर्ण मानसिकता आदि के विरुद्ध क्रांति मचाने की प्रेरणा 'बह रही कैसी यह बयार' कविता द्वारा दी जाती है। इन अमानवीय व्यवहारों के प्रति उदार न होने को कविता उसे चेताती है। घर एवं समाज में मौजूद पुरुषसत्तात्मक वर्चस्व एवं सवर्ण जनता का शिकार बनने वाली दलित स्त्री का शरीर केवल कौतूहल बन जाता है। सभी प्रकार के शारीरिक व मानसिक उत्पीडनों को सहने वाली दलित स्त्री को उसके परिवेश के प्रति सजग बनाने का प्रयास भी इस कविता द्वारा किया गया है।

"संस्कृति यह कैसी
बाज़ार यह कैसा
मानवता यह कैसी
मानसिकता यह कैसी
हो जहाँ तुम
मांस का लोथड़ा"[4]

दलित स्त्री के प्रति आदर बढ़ाने का प्रयास भी 'न समझे जाने का दर्द' संग्रह की कविताओं में हुआ है। स्त्री को एक मनुष्य के रूप में न देखकर, उसे केवल 'स्त्रीलिंग' में संकुचित कर देने वाली सामाजिक व्यवस्था का विरोध 'दोस्त' कविता में साफ़ ज़ाहिर है। कवि स्त्री को देवी भी नहीं कहना चाहते हैं,

क्योंकि ये शब्द पराए का तथा अजनबी और आभासी होने का बोध कराता है। स्त्री की उपस्थिति से जीवन का हर एक कार्य संचालित होता है। फिर भी पुरुषों के लिए वह केवल भोग्या है। लेकिन कवि ने स्त्री को 'सखा' न कहकर 'दोस्त' कहने का निर्णय लिया है। क्योंकि वह केवल साथ रहने वाली ही नहीं, बल्कि उससे स्नेह, आदर व विश्वास भी रखे जाते हैं।

"तुम वह साथी हो
तुम वह विचार हो
जो आधे मनुष्य को
करता है पूरा,
रचता है बेहतर दुनिया"[5]

उच्च सामाजिक समुदायों में रहने वाले लोग अपनी संस्कृति को उच्च संस्कृति मानते हैं। वे बाहरी तौर पर सभ्यता का प्रदर्शन करते हैं। लेकिन उनके अंतर्मन में जातीय अहंकार रहता है। 'दंश' कविता द्वारा इस वास्तविकता का पर्दाफ़ाश किया गया है। वे इंसानियत का मुखौटा पहनते हुए बनावटी आत्मीयता, झूठी शान और जातीय गौरव का विष धारण करते हैं। झूठी शराफ़त या कुलीनता का दंभ अपनाकर, दलित जाति के लोगों को कुचलने का प्रयास करते रहते हैं। अपना स्वार्थ साधने के लिए वे इनसे मीठी बोली बोलते हैं। उनके नकली व्यवहार को असली प्यार मानने वाले दलित, बाद में उनके बहरूपिया स्वभाव को पहचान लेते हैं। कवि चेतावनी देते हैं कि ये लोग सवर्ण जातीय संस्कृति के विषधर हैं। वे दलित जनता को अधम समझते हुए उनका सर्वनाश करना चाहते हैं। झूठे आरोप लगाकर उस निर्दोष जनता की मारपीट करते हैं। कवि याद दिलाते हैं कि सवर्ण जातीय विषधर का 'दंश' विष से भी गहरा होता है।

"तुम हो सवर्ण जातीय सांस्कृतिक विषधर
बहरूपिया बनकर हताहत कर रहे निकृष्ट जन का
सच में इंसानी विष लाजवाब है..."[6]

अलग-अलग क्षेत्रों में रहने वाले तथा अलग-अलग समुदायों के लोगों को आपस में जोड़कर दुनिया की सांस्कृतिक व आर्थिक प्रगति बढ़ाने में वैश्वीकरण की भूमिका नगण्य नहीं है। इसी बीच दुनिया की आर्थिक शक्तियाँ आम जनता की मेहनती को खरीदने लगीं और उन्हें विपन्नता के गर्त में पटक दिया। समाज का अभिजात वर्ग धार्मिक स्तर पर भी श्रमिक व दलितों का शोषण करने लगा। गरीबी मिटाने के उद्देश्य से मेहनत करके कमाने वालों को धार्मिक आस्था व

मान्यताओं के नाम पर लूटने वाली वक्र बुद्धि की ओर 'इमोशनल व्यापार' कविता में ध्यान खींचा जाता है। कंगाल होते हुए भी अपनी चाहत की पूर्ति के लिए दलित या श्रमिक पूज्य बाबा की मूर्ति या मंदिरों पर अपनी छोटी-सी मज़दूरी का अंश चढ़ा देते हैं। इमोशनल अत्याचार एवं इमोशनल व्यापार के शिकार बनने वाले इस शोषित जनों की मेहनत के ज़रिए, समाज के बेरोज़गार सवर्ण जन कामयाब भी बन जाते हैं। इस सत्य का उद्घाटन 'इमोशनल व्यापार' कविता में किया गया है।

"श्रमिक जन लुट रहा है भक्ति के नाम
पर
कुटिल बुद्ध जन लूट रहा है
आस्था के नाम पर
जो भी हो
यह सच है
इमोशनल अत्याचार की शिकार है
जनता!
इमोशनल व्यापार की शिकार है
जनता!"[7]

'पहचान' कविता में एलीट वर्ग की सांस्कृतिक शुद्धता के दिखावे की ओर इशारा किया जाता है। सवर्ण जाति के लोग अपनी जातिगत प्रयोगशाला में, दलित व्यक्ति को खींचकर उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिन्ह लगा देते हैं। वे अपनी सामाजिक श्रेष्ठता एवं जातीय दंभ की पहचान दलितों के मन पर छोड़ जाते हैं। जातिप्रथा का शिकार बनने वाले दलित के मन में उसकी अस्मिता या पहचान पर शंका पैदा करके वे चले जाते हैं।

"कुटिल मुस्कान और हेय दृष्टि के
साथ आगे बढ़
जाता है वह
और वह
छोड़ जाता है
मेरे मन पर दंभी और श्रेष्ठ होने
की पहचान।
सोचने पर विवश होता हूँ
क्या है मेरी पहचान!
क्या यही है मेरी पहचान!!"[8]

दलित कविताओं में प्रयुक्त हरेक शब्द की अपनी खास ताकत होती है, अपना एक दुखद इतिहास होता है। जैसे कि शंभूनाथ ने कहा है, "दरअसल हर शब्द का एक अर्थ गौरव है। खासकर लोक, नागरिक समाज, बुद्धिजीवी, धर्म, इतिहास, साहित्य, संस्कृति, लोकतंत्र, न्याय जैसे हर शब्द का एक मतलब है। ऐसे हर शब्द का एक इतिहास है। हमारे सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि ऐसे शब्दों के अर्थ गौरव की वापसी कैसे हो। शब्द ही हैं हमारे जीवन की मिट्टी, हमारे पैर खड़ा करने की धरती, हमारी

आँखों की ज्योति। "[9] डॉ.नामदेव की कविताओं में प्रयुक्त कई शब्द दलित जीवन के विभिन्न पहलुओं के द्योतक हैं। 'चक्रव्यूह' कविता का शीर्षक तक, यानी 'चक्रव्यूह' शब्द भी दलितों की ज़िंदगी के इतिहास तथा उनके प्रतिबंधों की गिरहों का बोध कराता है। पहले दलित जन उच्च वर्ग के बुरे प्रभावों के चक्रव्यूह को तोड़ नहीं सकते थे। लेकिन आज वे अपने अस्मिताबोध के कारण उच्च कुल के लोगों के अत्याचारों के खिलाफ़ विद्रोह करने के लिए तैयार हो चुके हैं। स्वाभिमान एवं अपने व्यक्तित्व को समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए आज दलित कार्यरत हैं। सामाजिक परिवर्तन के लिए वे प्रयास कर रहे हैं। जीवन की दुविधाओं तथा संघर्षों के चक्रव्यूह से उठ खड़े होकर वार करने को वे आमादा हैं।

"लेकिन तुम जान लो
पिछला इंसा अब उठ चुका है
तुम्हारे वजूद के सामने
अपने वजूद के साथ
अपने स्वाभिमान के लिए
अपनी उपलब्धियों के साए में
तुम्हारी छाती पर मूंग दलेगा
परिवर्तन की इस बयार को
तुम्हारे रौंदे व्यक्ति ने
कल रात सपने में देखा है!!!"[10]

सवर्ण जाति के लोग देखने में भले ही इज्जतदार लगते हों, परंतु दलित जाति के प्रति उनके मन में केवल नफ़रत ही होता है। सवर्ण जाति के इन दूषित संस्कारों को दलित जनता कुसंस्कार कहना ही उचित समझती है। सवर्ण के सारे कृत्य अमानवीय एवं असामाजिक हैं। इसी बात को अनाच्छादित करने वाली कविता है, 'हसीन मुखौटे'। कवि की राय में, उच्च श्रेणी के लोगों की चपल अदाओं में, दमित जन के प्रति तिरस्कार और जानलेवा भाव अनजाने में ही प्रकट हो जाते हैं।

"कह जाते हो वो
कर जाते हो वो
जो असामाजिक है
अमानवीय है,
क्योंकि वो तुम्हारी
संस्कृति है
आदत है
मुहावरा है
जिसको तुम संस्कार कहते हो
और मैं कुसंस्कार कहता हूँ!"[11]

'नैतिक ढकोसले' कविता भी इसी तथ्य का प्रमाण है। खुद को श्रेष्ठ मानने वाले एलीट वर्ग की खोखली नैतिकता, कृत्रिम वाक्पटुता, छद्म मानवता और विषाक्तता के प्रति दलितों के मन में आक्रोश उत्पन्न करने का प्रयास

इसमें किया गया है। सामाजिक न्याय को प्रमुखता देने की चेतावनी भी दी जाती है।

"तुम्हारे नित नए प्रपंचों पर
तुम्हारी नित नयी खोखली नैतिकता पर
मेरी ईमानदारी का एक प्रहार ही काफी है
संभल जाओ तुम चेत जाओ तुम
ये समय सुदर्शन चक्र का नहीं
सामाजिक न्याय का है"[12]

दलितों के प्रति तिरस्कृत या निंदित मानसिकता सवर्णों के व्यवहार में ही नहीं, अपितु उनकी भाषा में भी प्रकट होती है। 'तुम्हारे अनैतिक मुहावरे' कविता में इसका दृष्टांत मिलता है। उनके मुहावरे, कहावतें, संस्कृति आदि सब जातिवाद से लदे हुए हैं। कवि इन अन्यायों के विरुद्ध आवाज़ उठाते हैं। 'चोरी चमारी है', 'खेत खाय गदहा मार खाय जोलहा', 'अहिर मिताई कब करे, जब सब मीत मरी जाए' आदि कई मुहावरे एवं कहावतें जातिवाद के हस्तक्षेप को प्रकट करने वाले हैं। जातिगत वर्चस्व के सामाजिक चिह्नों के रूप में आज भी ये सब समाज में विद्यमान हैं। इसका तीव्र विरोध कविता में प्रस्तुत किया जाता है। लिंग, जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा आदि संकीर्णताओं को त्याग कर सम्मान और सौहार्द के नए मुहावरे गढ़ने की आवश्यकता के बारे में इस कविता में अंकित किया गया है।

"जब समाज बदला जा सकता है सत्ता
बदली जा सकती है
तो मुहावरे क्यों नहीं बदले जा
सकते?"[13]

डॉ. नामदेव की कविताओं में दलित जन की आक्रोश भरी मानसिकता को ही अभिव्यक्त किया गया है। दलित जाति को सामाजिक प्रतिष्ठा मिलनी ही चाहिए -यही माँग 'न समझे जाने का दर्द' संग्रह की कविताओं में भी अधिकतर मुखरित हुई है। इन कविताओं में दलितों को उनके अधिकारों के लिए जाग उठने की प्रेरणा दी गई है। यह स्पष्ट करने में ये कविताएँ सफल हुई हैं कि दलितों की वेदना सिर्फ उनकी ही वेदना है। इन कविताओं ने इन मुद्दों की ओर दलित जन का ध्यान आकर्षित किया है और उनको चेताया भी है कि उनको दमित करने वाली विकृत सामाजिक मानसिकता के खिलाफ़ उठ खड़ा होना ही चाहिए ■

संदर्भ

1. मैनेजर पांडेय, साहित्य और इतिहास दृष्टि, पृ. 103, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पेपर बैक सातवाँ संस्करण : 2021
2. नामदेव, 'न समझे जाने का दर्द' काव्य संग्रह, पृ.16, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, पहला संस्करण : 2020
3. वही, पृ.17
4. वही, पृ.44
5. वही, पृ.59
6. वही, पृ.50
7. वही, पृ. 23
8. वही, पृ.32
9. सं.शंभुनाथ, वागर्थ पत्रिका, भारतीय भाषा परिषद, पृ.11, जून 2022, अंक 319
10. नामदेव, 'न समझे जाने का दर्द' काव्य संग्रह, पृ.54, रश्मि प्रकाशन, लखनऊ, पहला संस्करण : 2020
11. वही, पृ.64
12. वही, पृ.73
13. वही, पृ.100
14. सुधीश पचौरी, नयी साहित्यिक सांस्कृतिक सिद्धांतिकियाँ वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण :2022
15. रिदम पत्रिका, अप्रैल-दिसंबर 2019
16. मैनेजर पांडेय, भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण
17. सं.डॉ.लीना वी.एल., समकालीन हिंदी साहित्य और नव-विमर्श, अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण

उदयप्रकाश की कविताओं में उपभोग संस्कृति और नारी जीवन

डॉ.रंजू.जी.नायर

बीसवीं सदी के इतिहास पर नज़र डालते समय हमें यह मालूम हो जाता है कि इस सदी के अंतर्गत हुए सभी घटनाओं में सर्वोपरी है भूमण्डलीकरण। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया लंबे अर्से से चल रही है। विभिन्न कालों में विभिन्न नामों से गुज़र कर आज यह वैश्वीकरण या भूमण्डलीकरण के नाम पर पूरी दुनिया में मंडरा रही है। जहाँ तक वैश्वीकरण का सवाल है वह पूरी दुनिया के सामने एक यथार्थ है, जिसने पूरे विश्व में एक नया परिवेश पैदा किया।

भारत में औद्योगिक क्रांति के साथ ही उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियाँ घुसपैंठ किया। औद्योगिक उत्पादनों केलिए बाज़ार की आवश्यकता थी और उसे कायम रखने की भी। इसकेलिए उपनिवेश का शिकार बने देशों को हर तरह के काट-छाँट करना और तोड-मरोड करना उनके लिए आवश्यक हो गया। पीछे-पीछे अधिक पुष्ट होकर भूमण्डलीकरण के रूप में सामने आ रही है। वैश्विक बाज़ारी संस्कृति के विस्तार में आज ऐसा माहौल बनता जा रहा है जहाँ मानवीय संबन्ध और जहाँ तक स्वयं मानव भी बिकाऊ चीज़ में बदल रहा है। बाज़ारों की दुनिया में 'आविष्कार आवश्यकता की जननी' बन गयी है। ग्राहक मल्टी नाशनल कंपनियों के उत्पादनों के सामने हतप्रभ हो जाते हैं। गणतंत्र और जनतंत्र बेकार की चीज़ बन रहे हैं और जनता शोषण के अंधकार में डूब रही हैं। भारत की यह गुलामी मानसिक दशा पर उदय प्रकाश जी का कथन है- "ग्लोबल पूँजी, एक ध्रुवीय विश्व व्यवस्था, डब्ल्यू टी.ओ, विश्व बैंक और बहु राष्ट्रीय कंपनियों के

चलते विकासशील देशों की सरकारें भी उन्हीं के हितों को पूरा करनेवाले दलाल या बिचौलिए की भूमिका निभा रही है।"[1]

बाज़ारवाद उपयोगिता पर निर्भर है। बाज़ारी समाज में आदमी की पूछ का आधार उपभोग होता है। उपभोग का नारा तो यह है कि जो जितना ज़्यादा उपभोग करता है वह उतना ही शक्तिशाली और उतना ही बडा आदमी है। आदमी ज़्यादा से ज़्यादा उपभोग के लिए तैयार हो और उपभोग्य वस्तुएँ निरंतर बढ़ती चली जाएँ, यही विकास है। इस दुनिया तो नए-नए संबन्धों और इस्तेमाल की दुनिया है। इस्तेमाल की इस दुनिया में सबसे ज़्यादा और सबसे बडी कीमती में इस्तेमाल करनेवाली चीज़ बन गयी है नारी। स्त्री के शरीर में इस्तेमाल होने की गुंजाइश अधिक है। उपभोगवादी संस्कृति में ऐसे एक मन की ज़रूरत है कि इस्तेमाल होने को हमेशा तैयार और उत्सुक है। पूँजीपतियों का कहना भी यही है कि स्त्री में ऐसी क्षमता होनी चाहिए जो अपने मोहित सौंदर्य से पुरुष और मीडिया को मोहित करें। पुरुष को स्त्री पहले ही अनुरागी है। स्त्री के सौंदर्य को दुनिया भर में फैलाने केलिए सौंदर्य प्रतियोगिता का आविष्कार किया। इन्हीं सौंदर्य प्रतियोगिताओं में पुरुष ही निर्णायक बन रहे हैं। स्त्री को अपने सौंदर्य से पुरुष निर्णायक को मोहित करना है, उनके ज़रिए दुनिया भर के पुरुषों को। उनके लिए स्त्री जो कुछ भी कर सकते हैं, जैसे अल्प वस्त्र, नाभी-पेड दिखाकर कपड़ा पहनना, आधा स्तन दिखाकर कपड़ा पहनना, पूरे शरीर पर चिपके हुए मृदुल वस्त्र पहनकर पुरुष को मोहित करना आदि आदि। इस प्रकार अपने अंग-प्रत्यंगों का प्रदर्शन करनेवाली महिलाओं केलिए एक नाम भी दिया गया 'मॉडल' और उनके प्रफशन को 'मॉडलिंग' भी कहा गया। सौंदर्य प्रदर्शन के लिए चैनल भी है। उसमें लगातार स्त्री शरीर के विविध भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन होता है। इसमें स्त्री शरीर का महिमा-मंडन भी करता है। उदय प्रकाशजी ने अपनी "एक नसीहत, जो हम बताए जाते हैं"शीर्षक कविता में स्त्री की इसी दशा का वर्णन इस प्रकार किया है-

"एक ढल चुकी नृत्यंगना चेहरे पर
सफेद और आँख में य़क्षगान जैसा कोयला
पोत कर
पद्मश्री होने केलिए
नाच रही है। "[2]

सौंदर्य प्रतियोगिताओं में युवतियों से कुछ रस्मी सवाल भी पूछे

जाते हैं। इसके द्वारा यह साबित करने की कोशिश भी की जाती है कि स्त्री के बाहरी ही नहीं, भीतरी सौंदर्य को भी महत्व दिया जा रहा है। सवालों के जब अच्छे जवाब मिलते हैं तो सबके चेहरों पर विस्मय फैल जाता है- वाह इतनी तेज़ बुद्धि, इतना सामर्थ्य, इतनी चटुलता आदि भी आते हैं। सच तो यह है कि यह सौंदर्य-वर्णन केवल शरीर का है। स्त्री शरीर का हर तरह इस्तेमाल किया जा सकता है। अपने शरीर को दूसरों के सामने दिखाकर बहुराष्ट्रीय कंपनियों की तिजोरी भराने केलिए अपने नंगेपन को बेचनेवाली यह समझ नहीं पाती कि ये कंपनियाँ आखेटक है और वे अपने शिकार की, अंत में हत्या ही कर देती है। जब मनुष्य की सोचने की शक्ति उपभोगवादी गुलामी मानसिकता से बुझ जाती है तो भूमण्डलीकृत समाज की बाज़ारीकृत व्यवस्था की चकाचौंध के खतरे को वह समझ नहीं पाता। ऐसे में अपने दिल को औरों सामने गिरवी न रखनेवाले सजग कवि ही कुछ अप्रिय प्रशन पूछने केलिए उपस्थित होते हैं-

"जो चीज़ें ठीक-ठाक हैं और जो चाहिए
तमाम लोगों को उनका
विज्ञापन क्यों नहीं दिखाई देता कहीं
उनकी कोई कीमत क्यों नहीं बची, कुछ बताएँगे आप?
एक छोटी सी जेब में समा जानेवाली कंघी
खैनी, राई अरहर और गुड केलिए
अपने कपडे क्यों नहीं उतारतीं
मधु सप्रे और अंजलि कपूर"[3]

वर्तमान उपभोगवादी समाज में नारी सिर्फ भोग की वस्तु है, प्रदर्शन की वस्तु है और बिकाऊ चीज़ है। टी.वी के परदे केलिए स्त्री का दुख हो, उसका शरीर हो, उसका सौंदर्य हो, वह बाज़ार में प्रदर्शित करने योग्य माल मात्र है। मानसिक विनोद केलिए आज अनेक तकनीकी सुविधाएँ हैं। सिनेमा, परंपराएँ, एलबम साङ्स जैसे अनेक सुविधाएँ हैं। इनमें एक पक्ष स्त्री का नग्नता प्रदर्शन है तो दूसरा स्त्री को क्रूर बहू नहीं तो निस्सहाय वधू या ससूर बनाकर उसके आत्माभिव्यक्ति को नष्ट करते हैं। उसे अयोग्य या अबला बनाकर उसके व्यक्तित्व को नष्ट करती है। निर्देशक के आज्ञाकारी नायिका बन जाती है वह। यदि निर्देशक रोने केलिए कहे तो रोना है, हंसने केलिए कहे तो हंसना है, नग्नता प्रदर्शन करने केलिए कहे तो वह भी करना है। वह एक

कठपुतली है। परदा कविता में कवि कहते हैं-

रोती रहेगी स्त्री परदे के भीतर
और परदे के बाहर इसी तरह
शताब्दियों तक
जब तक उसे निर्देश होगा
जब तक मिलती रहेगी अनुमति।

आज की नारी शिक्षित है। आत्मनिर्भरता भी ज़्यादा बढ़ी है। लेकिन उन पर भी अपने शरीर को लेकर हताशा तेज़ी से बढ़ती जा रही है, उसकेलिए इतना अधिक धन खर्च करने केलिए भी उनको कोई शक नहीं। समाज में औरतों का मूल्य तो कम है, इसकेलिए नारी-विरोधी सभी क्रिया-कलाप इतने निर्विघ्न और निश्चिंत ढंग से चल पा रहे हैं। स्त्री के शरीर को अच्छी तरह चूसकर अंत में उसे मिट्टी के तेल या पेट्रोल में भिगोये जाते हैं या उनकी नाक में देर तक तकिया दबाए जाते हैं।

वर्षों तक, उन्हीं के खून
वर्षों तक, उन्हीं के खून
और उन्हीं के रज से
उनको नहलाते हुए
....
वही तकिया
उनकी नाक में देर तक दबाया गया। "[4]

स्त्री आज उपभोक्ता संस्कृति में भ्रमित है। स्त्री का मन अपने शारीरिक-सौंदर्य पर लगाने के साथ-साथ पारिवारिक जीवन में भी लग रहा है। स्त्री की रुचि के अनुसार बाज़ार में बीस या पच्चीस ब्राण्ट की चीज़ें हैं। ब्राण्ट स्त्री को आश्वस्त करता है। उसके भीतर कर्तव्य, जिम्मेदारी और कृतज्ञता की भावना पैदा करता है। दुनिया भर के लिप्स्टिक, नेल-पॉलिश, जूते-चपल, गहनें सभी पर स्त्रियाँ बेहद ग्रसित है। इन साधनों के संग्रह से उसके पर्स की कटाई होती है। उपभोगवादी संस्कृति स्त्री को बेकार की चीज़ बनाती है। ■

संदर्भ

1.अपनी उनकी बात, पृ.सं-122

2.रात में हारमोनियम, पृ.सं-25

3.रात में हारमोनियम पृ.सं-49

4. रात में हारमोनियम पृ.सं-47

सूरीनाम की कविताओं में भाषाई अस्मिता

ब्लस्सन राजू
शोधार्थी, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय
शोध निदेशक
प्रो.आर.जयचंद्रन
निदेशक ,स्कूल ऑफ इंडियन लैंग्वेजज़, केरल विश्वविद्यालय, तिरुवनंतपुरम, केरल

सूरीनाम दक्षिण अमेरिका के उत्तर में स्थित एक देश है। सूरीनाम में भारतीय संस्कृति का विकास वहाँ के गिरमिटिया मजदूरों के ज़रिए हुआ है। विमलेश क्रांति वर्मा के अनुसार "इन भारतीयों के मध्य आपसी बोलचाल भाषा हिंदी है। इसी हिंदी को 'सरनामी हिंदी' या 'सरनामी' संज्ञा से अभिहित किया गया है। सरनामी हिंदी अवधी, भोजपुरी, ब्रज तथा खड़ी बोली का मिश्रित स्वरूप प्रस्तुत करती है। सरनामी को 'सरनामी हिन्दुस्तानी' अथवा 'सरनामी हिंदी' नाम से भी जाना जाता है। " 1

सूरीनाम में आज भी भारतीय अपनी अस्मिता और पहचान को बचाए रखने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। इसलिए उनकी साहित्यिक रचनाओंमें अस्मिता बोध की झलक मिलती है। रणजीत कुमार सिंह जी ने अस्मिता-बोध पर अपना विचार इस प्रकार व्यक्त किया है- "अस्मिता-बोध की तभी आवश्यकता पड़ती है, जब हमारी पहचान पर खतरा हो। तात्पर्य यह है कि अगर किसी व्यक्ति या समुदाय के जाती, धर्म, कुल, वंश, राष्ट, भाषा, लिंग आदि पहचानों को मिटने या हीन साबित करने की कोशिश की जाती है तो वह अमुक व्यक्ति या

समुदाय इन पहचानों को बचाने की चेष्टा करता है। यह चेष्टा आन्दोलन, साहित्य, विचारधारा, कला, इतिहास लेखन आदि अनेक रूपों में अभिव्यक्त होती है। "2

सूरीनाम में आज भी भारतीय अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। मुख्य रूप से इसका पहला चरण भाषाई अस्मिता है। क्योंकि भाषा संस्कृति की संवाहक है, मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति का साधन है। वे भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्यों को पीढ़ी दर पीढ़ी अपनी भाषा के माध्यम से संजोए हुए हैं। विमलेश जी का मानना यह है कि "इन प्रवासी भारतीय हिंदी की सुरक्षा तथा सम्मान के लिए सजग हैं तथा हिंदी को भारतीय अस्मिता का प्रतीक मानते हैं।"3 खासकर उनके मन में भारत देश के लिए बिछोह की पीड़ाऔर प्रेम के बावजूद सूरीनाम की कविताओं में अपने देश सूरीनाम के प्रति गहन आस्था और लगाव देखा जा सकता है। सूरीनाम के कवि अमर सिंह रमन जी के शब्दों में

"इस धरती की शान बढ़ाऊंगा सारी शक्ति लगाय के
में तो हमेशा यहीं रहूँगा सरनामी जनता कहाय के। "4

न केवल देश के प्रति नहीं बल्कि सरनामी भाषा के प्रति भी उनकी आस्था और दृढ़ विशवास है। "प्रवासी भारतीय हिंदी की सुरक्षा तथा सम्मान के लिए सजग हैं तथा हिंदी को भारतीय अस्मिता का प्रतीक मानते हैं।"5 हर देश के समाज की पहचान उस देश की भाषा के आधार पर होती है। भाषा के विकास के साथ समाज में भी परिवर्तन आते हैं। भाषा एकता का प्रतीक है। भाषा संस्कृति के प्रतिफलन का प्रतिबिंब है। सरनामी देश और भाषा के बारे में देवानांद शिवराज जी लिखा है कि:-

"हैं हम सूरीनामी, सरनामी हिन्दुस्तानी,
हम हैं क्रियोल, इंगी, चीनी और जावानी
मिलकर सब पीते यहाँ एक कुएँ का पानी
करते हैं निज कर्म को रखते नहीं गुमानी
हैं हम सरनामी, सरनामी हिन्दुस्तानी।"6

देवानंद जी के अनुसार आज सूरीनाम में प्रचलित सरनामी हिंदी खिचड़ी रूप में है। यह एक क्रियोल भाषा है। इसलिए वे स्वतंत्र अस्तित्व के लिए एक स्वतंत्र भाषा के रूप में मान्यता प्राप्त करने के लिए अन्य क्रियोल भाषाओं के साथ संघर्ष कर रहे

हैं। सरनामी अब उनके अस्तित्व से जुड़ गए हैं।

आज के ज़माने में सूरीनाम में उँगलियों में गिने चुने लोग ही साहित्य सृजन करते हैं। लेकिन भाषा के संबंध में सरनामी कवियों एकमत नहीं है। उनकी कविताओं में यह फर्क स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। सूरीनाम के प्रसिद्ध कवि हरिदेव सहतू जी हिंदी और सरनामी को अलग नहीं मानते हैं। उनके अनुसार सरनामी हिंदी से निकली हुई भाषा है। इस लिए सरनामी के ज़रिये ही हिंदी और भारतीय संस्कृति जीवित रहेगा।

महतारी भाषा
हम तोहके का बोली
बोली बोली
भाषा बोली
अवधी की भोजपुरी
हम तोहके का बोली
सरनामी कि सरनामी हिंदी
हिन्दुस्तानी कि सरनामी हिन्दुस्तानी
हम तोहके का बोली"7

कवि यहाँ सरनामी भाषा को अपनी माँ मानते हुए भी सरनामी को अवधी, भोजपुरी जैसे बोलियों से अलग करना नहीं चाहते हैं।

दूसरी और जीत नाराईन जैसे वरिष्ट सूरीनाम के कवि सरनामी को हिंदी से अलग मानते हैं। उनके शब्द में

"यह बिलकुल अलग भाषा है, यह हिंदी की बोली ना सके है। इसका हम प्रमाण कर ले ली। यह हम नहीं उसका व्याकरण कहता है। ग्रामर के मुताबिक़ वह अलग है।"8 सूरीनाम के प्रमुख कवि राजमोहन जी भी इससे सहमत है। वह ऐसे प्रस्ताव रखा कि मैं सरनामी हिन्दुस्तानी हूँ पर मेरी भाषा सरनामी है।

सुरजन परोही जैसे कवि सरनामी का पक्षधर हैं। उनके अनुसार भारतीय भाषाएँ आपस में और उसके साथ डच भाषा मिलाकर सरनामी भाषा बन गयी है। उनकी कविताओं द्वारा वह सरनामी भाषा को अधिक बल दिया है। वह सरनामी कविताओं द्वारा सूरीनाम में भारतीय संस्कृति का पहचान बना दिया है। सूरीनाम में उर्दू और हिंदी की प्रतिष्ठा के सामने सूरीनामी लोगों के बीच सरनामी भाषा को प्रतिष्ट और सम्मान नहीं मिल रहा है। वहाँ के लोगों के मन में सरनामी एक अपरिष्कृत, अपरिनिष्ट एवं उपेक्षित भाषा की तरह है। और सूरीनाम में आज सरनामी को टूटी-फूटी, अव्याकरणिक और असंस्कृत भाषा के रूप में देखते हैं और शुद्ध खड़ीबोली हिंदी में बोलने का प्रयत्न कर रहे है।

"सरनामी हिंदी हमारी बोलचाल भाषा है

भारत जैसा हमें इसे अपनाना है
हिंदी जिंदा तो धर्म-कर्म जिंदा है
नहीं तो कागज़ का पुलिंदा है। "9

इन कवियों ने सरनामी को इतना महत्त्व देने का एक कारण गिरमिटिया मजदूरों के अप्रवासी याद सरनामी भाषा में अंकित है। उनकी खून सरनामी भाषा में बहते हैं। सरनामी भाषा का विकास एक यात्रा है गन्ने के 'खेतों में काम करने केलिए १८७३ से लेकर आज तक अपने अस्तित्व को स्वतंत्र रूप से मानने के लिए उस मिट्टी में खड़े होकर संघर्ष करने तक की यात्रा है।

ऐसे कुछ कवि भी है जिनको हिंदी और सरनामी एक जैसा है। वे सरनामी को हिंदी समझते हैं। सूरीनाम में हिंदी भाषा में इतना परिवर्तन होकर सरनामी होने पर भी वे लोग सरनामी भाषा में हिंदी भाषा और साहित्य के बारे में कवितायें लिखते हैं। उनके अनुसार सूरीनाम में भारतीय संस्कृति इस भाषा की वजह से पनप रही है। हिन्दू, मुस्लिम, सिख जैसे अनेक जाति के लोग वहाँ रहते है। फिर भी भारत के प्रति उनके मन की भावनाओं और संवेदनाओं में कोइ कमी नहीं है।

"जब तक जीवन बाकी है।
मान दान और वेद-पुराण, सगरो होता
मेरा आख्यान
ऋषि-मुनि जप-जोग निदान, सबके तू
ही अन का प्राण।
थू ध्यानमग्न की बिंदी है, यही तो अपनी
हिंदी है।"10

चंद्रमोहन रणजीत सिंह भी ऐसी हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा मानते हुए समाज कल्याण के लिए अपनी भाषा पर निरंतर ध्यान देने की आवश्यकता प्रस्तुत करते हैं। हिंदी भारतीयों की राष्ट्रीय पहचान और संस्कृत का गौरव है। चन्द्रमोहन जी ने हिन्दी को सांस्कृतिक स्वाभिमान का प्रतीक मानते हुए लिखा है।

"हिंदी भाषा भूल मत, करो निरंतर
ध्यान
हिंदी भाषा बोलिए होवे निर्मल ज्ञान
राष्ट्रीय भाषा को पढ़ो, होय सदा
कल्याण। "11

कुछ कवियों का मानना है कि हिंदी और सरनामी अलग है। वे जानते हैं कि सरनामी या हिंदी पढने पर ही भारतीय संस्कृति की पहचान रहेगी। दोनों का जड़ एक ही है। सरनामी और हिंदी भारतीयों को आपस में पहचानने का साधन है और उनकी संस्कृति भी। हिन्दुस्तानियों की भावनाएँ, विचार और जीवन पद्धति भाषा से जुड़े हुए हैं

और वे संस्कृति और परंपराओं को जोड़ रखने की एक कड़ी के रूप में भाषा को देखते हैं। आज सूरीनाम के कई लोग भारत जाकर मानक हिंदी सीखते हैं और वापस सूरीनाम में जाकर सार्वभौमिक रूप में वहां बिकसित सरनामी को अशुद्ध या अमानक कहकर उनका विरोध कर रहे हैं। लेकिन सरनामी के संध्या भग्गू जैसे अन्य कुछ कवियों सरनामी और हिंदी को एक माना है। हिंदी और सरनामी के ज़रिये सूरीनाम में भारत की पहचान बनाने की कोशिश कर रहे है।

"भारत देश से सब लाए

सरनामी हिंदी से माई- बाबा

अपनी पहचान बनाए

हिंदी हो या सरनामी

दोनों ही अति प्यारी"12

सरनामी हिंदी भारतीयों के बीच जान पहचान का जरिया है। और बिना सरनामी के उनका अस्तित्व और पहचान खतरे में है। डच, अंग्रेजी और अन्य क्रियोल जैसी भाषाओं के प्रभाव से सरनामी की भाषा प्रणाली और व्याकरणिक संरचनाओं में बदल आ गए हैं। कवियों के मन में एक डर है कि सूरीनाम के दूसरे समाज ने उनकी भाषा से उनकी पहचान काट दी और उसकी जगह कोई और भाषा ले ली। सरनामी कवयित्री सुशीला सुक्खु इस प्रकार अपनी आपत्ति उठाती है कि-

"हिन्दुस्तानी होकर हिंदी नहीं बोलनी आती

ऐसे लोगों से जाति की करो रक्षा विधाता

जीवित होकर खुद को मामी-डाड़ी कहलाते

घृणा करें निर्धन बच्चों से, कुत्तों को सहलाते।"13

संक्षेप में कहे तो कि आज सरनामी हिंदी की अस्मिता पर कई तरह के सवाल उठाए जा रहे हैं। १९६१ से लेकर आज तक भाषा विशेषज्ञों और साहित्यकारों के द्वारा सरनामी को एक स्वतंत्र भाषा के रूप में राजकीय मान्यता दिलाने की कोशिश कर रहे हैं। इन सवालों के तह में कई कारण हैं। पहला कारण यह है कि कई लोग सरनामी को संप्रेषण की एक भाषा के रूप में देखते हैं। दूसरा कारण है कि सरनामी की लिपि रोमन है। इसलिए हिन्दीवाले सरनामी को उतना महत्व नहीं देते जितना देवनागरी लिपि में लिखित हिंदी को देते हैं। हिंदी और सरनामी के बीच यह संघर्ष निरंतर चल रहा हैं।

सरनामी भाषा की कविताओं में भी भाषाई कमियाँ और नज़र आती हैं। इसलिए कवियों हिंदी और सरनामी दोनों में साहित्य सृजन करते हैं। सरनामी में लिखी गयी साहित्यिक रचनाओं में व्याकरणिक अशुद्धियाँ, कलात्मकता का अभाव और काव्यशास्त्रीय व्यतिक्रम आदि नज़र आते हैं। और यह बात सच है कि मानक एवं परिनिष्ट हिंदी उनकी अपनी भाषा नहीं है। सरनामी भाषा विशोषताओं का एक संग्रह है जो भाषा के कृत्रिम नियमों के दायरे में न रहते हुए पारंपरिक कानून के बंधनों को तोड़कर अन्य भाषाओं के साथ संयोजन करके निरंतर अग्रसर हो रही है और यही इसकी विलक्षणता है। ■

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. सरनामी हिंदी: हिंदी का विश्व फलक, सं: विमलेश क्रांति वर्मा, भावना सक्सेना, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत नई दिल्ली २०२१, पृ. सं २६

२. बी.पी.एस.सी प्रधान शिक्षक भारती परीक्षा – २०२२, रणजीत कुमार सिंह, प्रभात प्रकाशन, २०२२, पृ. सं १४९

३. सरनामा ाहदा: ाहदा का ावश्व फलक, स: ावमलश क्राात वमा, भावना सक्सना, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत नई दिल्ली २०२१, पृ. सं २६

४.सूरीनाम कासृजनात्मक हिंदी साहित्य, सं: विमलेश क्रांति वर्मा, भावना सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली २०१५, पृ. सं ४१

५.सरनामी हिंदी: हिंदी का विश्व फलक, सं: विमलेश क्रांति वर्मा, भावना सक्सेना, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत नई दिल्ली २०२१, पृ. सं २६

६.http://kavıtakosh.org/kk/सूरीनाम_देश_हमारा_/_देवानांद_शिवराज)

७. सूरीनाम कासृजनात्मक हिंदी साहित्य, सं: विमलेश क्रांति वर्मा, भावना सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली २०१५, पृ. सं १८०

८. सरनामी हिंदी : हिंदी का विश्व फलक, सं: विमलेश क्रांति वर्मा, भावना सक्सेना, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत नई दिल्ली २०२१, पृ. सं ९३

९. सूरीनाम कासृजनात्मक हिंदी साहित्य, सं: विमलेश क्रांति वर्मा, भावना सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली २०१५, पृ. सं १५६

१०. प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्य, सं: विमलेश क्रांति वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, २०१६, पृ.सं ७०

११. रणजीत सिंह, अपनी मातृभाषा, प्रवासी भारतीय हिंदी साहित्य, विमलेश क्रांति वर्मा, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली २०१६, पृ.सं ८३

१२. सूरीनाम कासृजनात्मक हिंदी साहित्य, सं: विमलेश क्रांति वर्मा, भावना सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली २०१५, पृ.सं १४८

१३. सूरीनाम कासृजनात्मक हिंदी साहित्य, सं: विमलेश क्रांति वर्मा, भावना सक्सेना, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली २०१५, पृ.सं १६२

कुमार अम्बुज की कविताओं में भूमंडलीकरण का परिदृश्य- 'उपशीर्षक' कविता संग्रह के संदर्भ में

अरुंधती मोहन

शोध छात्रा, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय, कार्यवट्टम, तिरुवनंतपुरम

शोध निदेशक

प्रो. आर जयचंद्रन

आचार्य, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

कुमुद शर्मा भूमंडलीकरण को इसप्रकार परिभाषित करती हैं "तकनीकी और संचार क्रांति ने विश्व को समेटकर एक विश्व ग्राम यानी ग्लोबल विलेज में बदल दिया है।विश्वग्राम की वह परिकल्पना मार्शल मैकलुहान की थी, परंतु हमारे यहाँ इस अवधारणा के मूल स्वर पहले से ही विद्यमान है।हमारे चिंतक ऋग्वेद में इस अवधारणा के सूत्र खोजते हुए 'विश्व पुष्टम ग्रामे अस्मिन अनातुरं' का उद्घोष करते हैं।"[1]विश्व को एक नज़रिए में बदल देने की घोषणा में सकारात्मक और नकारात्मक दोंनो पक्ष हैं। दुनिया केवल मानव केलिए ही नहीं, यहाँ के पेड़-पौधे, पशु-पक्षी, पहाड़, नदी, नाले सब केलिए है। समानता एवं समन्वय के पक्षधर के रूप में विद्यमान भूमंडलीकरण की प्रक्रिया अपने व्यवहार से बिल्कुल भिन्न है।विश्व ग्राम की संकल्पना जनता को भौतिक वृद्धि प्रदान करतीहै।लेकिन मानव की सहज प्रवृत्ति आत्मीयता खो बैठती है।वह गरीब को अधिक विपन्नता में डाल देती है।आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में भूमंडलीकरण की नीतियाँ घुटन पैदा करती रहती हैं।

समकालीन हिंदी कवि कुमार अम्बुज की कविताओं में तत्कालीन समय की चुन्नौतियों और विद्रूपताओं का व्याख्यान मिलता है।उन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से अन्याय के प्रति विरोध प्रकट किया।उन्होंने एक बार कहा है कि "मैं कविता क्यों लिख रहा हूँ?इस सवाल का कोई चमकदार उत्तर मेरे पास कभी नहीं होता।सिवाय एक मधुमक्खी के होने का कोई अर्थ है और एक कमज़ोर आदमी होने का कोई अर्थ और संघर्ष है तो वही अर्थ मेरे कवि होने का भी माना जा सकता है।कवि को साहित्य की दुनिया में जाते हुए समुद्र की दुनिया के भीतर जाने का एहसास होता है।समुद्र ऊपरी सतह पर उफनता हुआ, पछाड़ खाता हुआ या अपनी लहरों के साथ विचरता हुआ शान्त और विस्तृत दिखता है, अपर और अंतहीन।लेकिन यह समुद्र की सतह को देखता हुआ साहित्य की सतह पर ऐसा ही दिखता है।कवि की रचना प्रक्रिया दुनिया को मनन करने की प्रक्रिया है।"[2]

कुमार अम्बुज की कविताओं में भूमंडलीकरण की सारी विशेषताएँ विद्यमान हैं। नवीन संग्रह 'उपशीर्षक' (2022) में भूमंडलीकृत समाज में बसनेवाले मानव जीवन की गहराई मौजूद है। मानव जीवन की क्षणभंगुरता, मृत्युबोध, अकेलापन, संत्रास, खतरे आदि सब कवि की कविताओं का विषय है। 'उपशीर्षक' कविता संग्रह में 'जब एक पोस्टर का जीवन' नामक कविता में कवि ने जीवन के खतरे का पर्दाफाश किया है।

"चलते चलते हमआ गए हैं उस जगह
जहाँ एक पोस्टर तक का जीवन ख़तरे में है और सबको अंदाज़ा हो जाता है कि अबमनुष्यों का जीवन और ज़्यादा खतरे में पड़ चुका है।"[3]

अकेलेपन से त्रसित जीवन बितानेवाले आदमी को 'सच्ची तस्वीर' नामक कविता में अभिव्यक्त किया गया है।जब कोई शहीद होते हैं समाज जयकारों के बीच खबर को साथ लेते हैं।लेकिन मीडिया और समाज की जयकार केवल एक दिन में खत्म हो जायेगी।कवि कहते हैं -

"जूते की तस्वीर हमने नहीं उतारी
वह उस दिन के किसी अखबार में हो सकती है

तीन चार दिन भीड़ भाड़ रही, अब हम अपने अकेलेपन में
पिता की नौकरी पर जाने से पहले की वह तस्वीर देखते हैं
जिसमें शहीद होने की कोई कामना नहीं दिखती
परिवार पालने का स्वप्न टिमटिमाता है।"[4]

भूमंडलीकरण कीव्याप्ति की सच्ची तस्वीर 'उपशीर्षक' कविता में

दिखती है।विश्व ग्राम की उपस्थिति के फलस्वरूप धरती में प्रदूषण ज़ारी है।औद्योगीकरण की फाँसी में निर्धन किसान का जीवन नष्ट हो जाता है।गरीबी हटाने का वादा हवा में उड़ जाता है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के

विकास ने प्राकृतिक संपदा का सर्वनाश कर दिया।कुमार अम्बुज कहते हैं अब पेड़ तो प्लास्टिक का है।

"इतना राष्ट्रवाद है कि किसी ने क्षमा याचना नहीं कि जा सकती
इस प्रदूषण में साफ हवा बची है
केवल चैंबर ऑफ कॉमर्स में
उड़ती हुई धूल ने नष्ट कर दी है धूप की प्रसन्नता
एक मुट्ठी मृदा परीक्षण में मिला है छह किसानों का रक्त
xxxxxxxxxxxxxxxxx
xxxxxxxxxx xxxxxxxx
आदमी अपने घर का नंबर भूलता है तो
प्राकृतिक सहारे की उम्मीद में
एक पेड़ के तने से टिक देता है
अपना सिर
तब उसे पता चलता है
यह पेड़ तो प्लास्टिक का है।"[5]

कुमार अम्बुज ने विश्व ग्राम की समन्वय भावना पर व्यंग्य किया है।समाज में अब भी हाशिएकृत लोगों की ज़िंदगी में बदलाव नहीं है।इनमें आदिवासी कहनेवाले लोगों को सभ्यता और विकास के नाम पर हटाया जाता है।'आदिवास' कविता की पंक्तियों के सहारे कवि आदिम निवासियों का आक्रोश व्यक्त करते हैं-

"यदि मैं पत्थर हूँ तो एक शिल्प भी हूँ
जैसा हूँ वैसा बनने में मुझे युग लगे हैं
हटाओ अपनी सभ्यता की छेनी
हटाओ ये विकास के हथौड़े
मैं पत्थर हूँ, पत्थर की तरह मेरी कद्र करो
ठोकर ज़रा संभलकर मारना
पत्थर हूँ।"[6]

बढ़ती जनसंख्या और बेरोजगारी के कारण लोग प्रवास करते हैं।भूमण्डलीकरण के प्रभाव से दुनिया भर में पूंजीपतियों ने अपना अधिकार जमा किया।औद्योगीकरण उनकेलिए एक रास्ता था।आम आदमी स्वप्निल ज़िन्दगी केलिए परिवार जनों से बिछुड़कर दूर जाते हैं।लेकिन उनका मन कभी हताशा से मुक्त नहीं होता।स्मृति की अथाह में डूब जाते हैं।'प्रवासी पक्षी' नामक कविता में कवि की पंक्तियाँ देखिए-

"हर आदमी के पास अपना एक जर्जर जहाज़ होता है

जिस पर वह वापस लौटता है बार बार
वह जहाज़ अगर नहीं है उसके जीवन में
तो वह होता है उसके स्वप्न में
किसी पेंटिंग, किसी कविता में
इच्छाओं में, मरीचिका में, स्मृति के आंचल में।"7

ज़िन्दगी जब जीने की भागदौड़ बन जाती तो मानव अपने परिवेश, चारदीवारी, रिश्ता सब अनदेखा करते हैं। लेकिन यही भागदौड़ वृद्धावस्था में समाप्ति की ओर जाती है।इससे वह एकांतवास में कराह उठता है।'एक सर्द शाम' नामक कविता के माध्यम से कुमार अम्बुज इस वृद्ध मानसिकता पर प्रकाश डालतेहैं।एक बुजुर्ग के साथ समय बिताने के बाद कवि ने कविता लिखी है।

"अकेले रह जाना कोई चुनाव या
इच्छा नहीं
बस आप अकेले हो जाते हैं
जैसे किसी नियति की तरह
यह समाज ही ऐसा हो गया है
कि पेश आने लगता है
नियति की तरह।"8

अकेलेपन में कभी वसंत नहीं आता।वे तो पुराने, उपेक्षित पीतल के बर्तन पर लगे धब्बे हैं। 'अकेलापन' कविता में इसी प्रतीक विधान के सहारे कवि अपनी राय प्रकट करते हैं।

"यह साधारण वसंत नहीं है
इस पर हरे बैंगनी भूरे धब्बे हैं
जैसे पुराने, उपेक्षित, बिना मँजे हुए
पीतल या तांबे के बर्तन पर
रखे रखे हो जाते हैं।"9

राजनीति के क्षेत्र में भी पूँजीपतियों का अधिकार देश की राजनीति, अर्थ एवं अधिकार पर आश्रित है।जनता केलिए जो सरकार शासन करती है, वह जनता केलिए शासन नहीं करती।जनता को मुसीबतों में डालकर न्याय एवं अधिकार केलिए भिखारी जैसा व्यवहार करती है।अपने अधिकारों से वे लोग वंचित हैं।यदि किसी व्यक्ति सरकार से कुछ मांगती है और अपनी विवशता प्रकट करती है, उन्हें सरकारी कागज़ लाने को आदेश देती है।'सरकारी मौत एक अंधविश्वास' नामक कविता के ज़रिए कवि व्यंग्य करते हैं-

"उनसे हर कोई हर जगह सिर्फ कागज़ माँगता है
पत्नी, बच्चे, पड़ोसी सब कहते हैं कागज़ लाओ, कागज़ ला ओर भी

दिलासा देती है तुम ज़िंदा हो बस कागज़ लाओ

काम -धाम, खाना-पीना, हँसना-बोलना

छोड़कर वे खोजते हैं कागज़

मगर उनकी दुनिया में वह कागज़

कहीं नहीं मिलता।"10

कुल मिलाकर कह सकते हैं कि कुमार अम्बुज ने समसामयिक भूमंडलीकृत समाज का विस्तृत फलक हमारे सामने पेश किया है।वे उन सत्ता, शक्ति एवं विचारधाराओं को उजागर करते हैं जो आम जनता को अमानवीयता में धकेल देते हैं।'उपशीर्षक' कविता संग्रह में मानव की जिजीविषा, अकेलापन, प्रेम, संघर्ष, अस्तित्व की तलाश सब प्रतिपाद्य हैं। ■

संदर्भ

1. समकालीन हिंदी कविता, ए. अरविंदाक्षन, फ्लैप से
2. राग भोपाली, कुमार अम्बुज विशेषांक, मई 2007, पृ सं 49-50
3. उपशीर्षक, कुमार अम्बुज, राधा कृष्ण प्रकाशन, 2022, पृ सं 10
4. वही, पृ सं 11
5. वही, पृ सं 17
6. वही, पृ सं 47
7. वही, पृ सं 76
8. वही, पृ सं 81
9. वही, पृ सं 82
10. वही, पृसं 23

वैश्वीकरण के दौर में निर्मला पुतुल की कविता

डॉ. संध्या मेनन
अतिथि आचार्य, के.एस.एम.डी.बी.कॉलेज, शास्तामकोट्टा, केरल

सार : निर्मला पुतुल जी झारखंड की संथाल आदिवासी कवयित्री हैं। उनकी कविताएँ आदिवासी लोक मानस से जुड़ी हुई हैं। वैश्वीकरण के फलस्वरूप आदिवासी संस्कृति और सभ्यता पर छाए संकट को उन्होंने बड़ी ही संजीदगी से बयां किया है। उनकी हर एक पंक्ति एक वेदना और प्रतिकार का ही साक्षात रूप हैं। ये कविताएँ वैश्वीकरण और पश्चिमीकरण की चकाचौंध में भी हमें कटु सत्य से अवगत कराती हैं कि जहाँ एक ओर ढेरों शॉपिंग मॉल्स और चमकदार रोशनी है, वहीं दूसरी तरफ अपने अस्तित्व, अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करता आदिवासी समाज। इन कविताओं में भारत की असली तस्वीर नजर आती है और सहृदय पाठकों को सचेत भी करती हैं कि विकास का पहिया बिना विस्थापन और छलावे के आगे बढ़े, इस तरह की राह अपनाई जाए। विकास, वैश्वीकरण और मानव कल्याण सब हमारी आँखों के सामने हमारी समझदारी से हो।

बीज शब्द : निर्मला पुतुल, संथाल आदिवासी कवयित्री, वैश्वीकरण, औद्योगिकरण, बांध पर्यावरण, संथाली आदिवासी संस्कृति-सभ्यता, किसान, विस्थापन, प्रतिरोध, अस्मिता, संघर्ष, समझदारी, मानव कल्याण।

"अगर हमारे विकास का मतलब
हमारी बस्तियों को उजाड़ कर कल
कारखाने बनाना है
तालाबों को भोथ कर राजमार्ग
जंगलों का सफाया कर ऑफिसर
कॉलोनीयाँ बसानी हैं

और पुनर्वास के नाम पर हमें
हमारे ही शहर की सीमा से बाहर
हाशिए पर धकेलना है
तो तुम्हारे तथाकथित विकास की मुख्यधारा में
शामिल होने के लिए
सौ बार सोचना पड़ेगा हमें "1

बिल्कुल सही कहा निर्मला पुतुल जी, सौ बार सोचना पड़ेगा हमें वैश्वीकरण के इस दौर में चारों तरफ विकास का ही बोलबाला है, हंगामा मचा हुआ है। विकास की मीठी गोली हर भोले- भाले इंसान को खिलाई जा रही है लेकिन इसके बदले में हमसे क्या-क्या छीना जा रहा है, समझना पड़ेगा -

"समझना पड़ेगा
कि मेरे गांव को मुख्य मार्ग से जोड़ने
केलिए सड़क बनाना चाहते हो तुम
या मेरे गांव तक पहुँचने के लिए
हमें बाजार उपलब्ध कराना है
या बाजार को हम तक पहुँचाने का देना है रास्ता
हमीं से हमारे पत्थरों को तोड़वा कर
शहर ले जाने का इरादा है तुम्हारा
या दिख गई है किसी नई खदान की संभावना
या फिर हमारे जंगलों की लकड़ियों
और गाँव की लड़कियों पर लग गई है तुम्हारी नज़र " 2

वैश्वीकरण के इस दौर में बांध परियोजना राष्ट्रीय उच्च मार्ग, खनन व्यवसाय, रेलवे लाइन, रीयल स्टेट, औद्योगिकरण, अभयारण्य, स्पेशल इकोनामिक ज़ोन और न जाने ऐसे कितने ही विशेषणों और चमक- दमक भरी स्कीमों से आदिवासियों का विस्थापन और शोषण होता ही चला आ रहा है। सरकार का हमेशा ही यह दावा रहता है कि हम विस्थापितों को हमेशा आश्रय और रोज़गार देते ही आए हैं। इस बात में कितनी सच्चाई है यह वही अच्छी तरह बता पाएगा जिसका आशियाना चौड़ी सड़कों, बड़े-बड़े शॉपिंग मॉल या औद्योगिक संयंत्र की भेंट चढ़ गया हो और वह किसान जो अपनी उपजाऊ भूमि छोड़कर मज़दूरी के लिए अन्य राज्यों में पलायन कर गया हो।

वैश्वीकरण बिना दीवारों का एक ऐसा आशियाना बनाने का ख़्वाब दिखाता है जहाँ सारी दुनिया के लोग बंधुत्व और आपसी समझदारी से मिल

बैठकर खाते और आदान-प्रदान करते हैं। क्या यह सिर्फ सपनों का महल मात्र नहीं है। धातु की खानों, अभयारण्य, औद्योगिकरण, शॉपिंग मॉल, बांधों के निर्माण, सड़कों का विस्तार जैसे वैश्वीकरण के टूल्स न जाने कितने आदिवासियों, गरीबों, किसानों की हरी-भरी ज़मीन को हड़प गए, उनकी भूमि जहाँ उनके देवता निवास करते हैं, उनसे छीन ली गई अपने ही देश में लोग शरणार्थी बन गए। एक जगह से दूर कहीं और जाकर बसने में उन्हें वातावरण की भिन्नता ही नहीं बल्कि बेगानापन भी झेलना पड़ता है। अप्रैल 2022 के वागर्थ के संपादकीय में श्री शंभूनाथ जी लिखते हैं कि –

" निश्चय ही विस्थापन की तकलीफों को झेलना आसान नहीं होता यह मनोवैज्ञानिक आघात का मामला भी होता है इसलिए वैश्वीकरण एक तरह से आदिवासियों के जीवन पर बाज का झपट्टा है "3

विकास, औद्योगिकीकरण, और राष्ट्रहित के नाम पर आदिवासी लोग हमेशा ही छले गये। ओडिशा के राउरकेला स्टीलप्लांट में नौकरी पर रखे गए कई विस्थापित लोगों को यह कहते हुए बाहर कर दिया गया कि वे अनुशासन विहीन हैं, शराब पीते हैं तथा अनियमित हैं। कर्नाटक के काबिनी बाँध से 1970 में सोलिगा आदिवासियों को विस्थापन का डंक सहना पड़ा। आईज़ोल के लेंगपुई एयरपोर्ट के बनने में मिज़ोरम के आदिवासी लोगों ने अपनी ज़मीन गवां दी थी। फिर सड़क बनाने के लिए वहाँ से भी विस्थापित कर दिए गये। नर्मदा बाँध, हीराकुंड बाँध, सरदार सरोवर बाँध, नागार्जुन बाँध, मयूराक्षी बाँध आदि इन सभी बांधों के लिए लाखों लोग विस्थापित हो चुके हैं। भूमि अधिग्रहण क़ानून हमारे संविधान के अनुरूप जल, जंगल व ज़मीन के पर्यावरण सन्दर्भ के बारे में कितना ध्यान रखता है इसका ख़ुलासा इस बात से हो जाएगा जब हमें उन आंकड़ों के बारे में पता चलेगा कि पिछले दस पंद्रह साल में कृषि के काबिल कितनी भूमि को ग़ैर कृषि कार्यों में इस्तेमाल किया जा चुका है। एक नहीं ऐसे विकास के कई मॉडल हैं जिन्होंने आदिवासियों और किसानों को विस्थापित करके उन्हें अनिश्चितता के चौराहे पर ला कर खड़ा कर दिया है।

आज हरियाली और खेतों को कुचलते हुए विकास का घोड़ा सरपट दौड़ा ही जा रहा है। वक्त और ज़माने के अनुसार विकास भी जरूरी है लेकिन

आदिवासियों, गरीबों, किसानों की खुशियाँ छीन कर नहीं। यह विकास का घोड़ा बेचारे आदिवासियों की ज़मीन, जंगल और किसानों के खेतों पर ही क्यों दौड़ाया जाता है, क्यों इस तरह की नीतियाँ बनाई जाती है कि विकास और विस्थापन को अलग-अलग कटघरे में खड़े होकर अपने-अपने पक्ष में दलीलें देनी पड़ती हैं ? कौन ऐसा न्यायाधीश होगा जो सिर्फ एक ही पक्ष में फैसला ले सके, क्योंकि भारतवर्ष विकास का विरोधी नहीं है लेकिन क्या यह विकास विस्थापन के बगैर संभव नहीं है ? गरीब किसान और आदिवासी क्या भारत की संतान नहीं है ? क्या उनके विकास के बिना भारत का विकास अधूरा नहीं रह जाएगा ? विकास की सुराही में ' सर्वहित ' का नीर नहीं बल्कि स्वार्थ का कीचड़ भरा हुआ है। वैश्वीकरण के इस जमाने में पूंजीपतियों की तो चांदी ही चांदी है। इमारतों और मॉल बनाने के लिए, उद्योगों के लिए जंगलों की कटाई, कोयला खदान जैसे विकास के कई मॉडलों से आदिवासी समाज अपनी ज़मीन से उखड़ गया है और अपनी रोज़ी - रोटी के लिए शहर की ओर पलायन कर रहा है। विदेशी कंपनियाँ भारत में निवेश कर अपना विस्तार करती हैं। यह कंपनियाँ फलने - फूलने के लिए आदिवासियों का वास स्थल हड़पने लगती हैं, जंगलों की कटाई और खनन से प्रकृति माँ तो घायल होती ही है, आदिवासी समाज भी विस्थापित हो जाता है। नष्ट होती प्राकृतिक संपदा के विषय पर खेद व्यक्त करते हुए निर्मला पुतुल जी कहती हैं कि –

"पड़ोसी राज्यों में विकास का ग्राफ बढ़ रहा है

और ऐसे में हमारा झारखंड विकास के सबसे

निचले पायदान पर कटोरा लेकर खड़ा

विकास के नाम पर भीख मांग रहा है

कितनी शर्मनाक स्थिति है कि जिस झारखंड के

खनिज और प्राकृतिक संपदा से पूरा देश चमक रहा है

उसी के मानचित्र पर धूल की मोटी परत जम चुकी है"4

जंगल की लकड़ी, पहाड़, पलाश के फूल सब कुछ हड़प लिए जाने पर चिंतित हैं निर्मला पुतुल जी -

"हमारे जंगल की लकड़ियों से

राजभवन आवास और गेस्ट हाउस के लिए

दरवाजे खिड़कियां और राउंडटेबल बन रहे हैं
हम चुप हैं
हमारे पहाड़ों को तोड़कर
बिहार की सड़कें बन रही हैं
कोई हमारे जंगल से
पलाश के फूलों को चुन
बोरे में भरकर
मुंबई के रंग फैक्ट्रियों में भेज रहा है
हम चुप हैं"[5]

सब कुछ छीन कर रोजगार का प्रलोभन दिया जाता रहा है -

" हमारी सरकार हमसे
हमारी जमीन छीनकर
विदेशी कंपनियों को उपलब्ध करा रही है
. हम चुप हैं
रोजगार गारंटी योजना के तहत
हमें जॉब कार्ड मिला
पर काम नहीं मिल रहा है
हम चुप हैं "[6]

निर्मला पुतुल जी की कविता काल सम्पृक्त और लोक सम्पृक्त है। यह हमें हमारे ही समाज की ज़मीनी सच्चाई से रूबरू कराती है। वैश्वीकरण के इस दौर में पर्यावरण की चिंता हो या आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न, उनके विस्थापन का दर्द हो या संघर्ष की गाथा सब कुछ बड़ी ही संजीदगी से बयां करती हैं निर्मला जी। जल, जंगल और ज़मीन से अलगाव का दर्द कविता में रेखांकित हुआ है। यहाँ अस्मिता का एहसास मौजूद है। निर्मला जी की आँखों में विस्थापित जीवन् को पुनर्स्थापित करने का ख़्वाब समाया हुआ है। वह आदिवासी मनुष्य को सचेत कर विद्रोह के लिए प्रेरित करती है। भूमंडलीकरण के दौर में जब आदिवासी संस्कृति और सभ्यता तथा अस्मिता पर संकट के काले बादल छाए हैं तो ऐसे में आदिवासी समाज भी अपनी संस्कृति को बचाए रखने के लिए संघर्ष कर रहा है क्योंकि अब नगाड़ा बज उठा है शोषण से प्रतिरोध का .. –

" पर यह भ्रम है दोस्तों
कि हम चुप हैं
सच तो यह है कि
चुप्पी साधे लोगों के बीच
चुपचाप बैठे सुन रहे हैं
उनकी फुसफुसाहट
और भीतर ही भीतर गुन रहे हैं
चुप्पी के विरुद्ध
एक सार्थक चीख़ की रणनीति"[7]

विकट परिस्थितियों में भी तमामसंघर्ष और चुनौतियों को झेलने के बाद भी निर्मला पुतुल जी बेहतर भविष्य और खुशहाल मानव जाति की कल्पना करती हैं –

"आओ मिलकर बचाएँ

इस दौर में भी बचाने को

बहुत कुछ बचा है, अब भी हमारे पास"[8]

सन्दर्भ सूची

1. निर्मला पुतुल, बेघर सपने, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण – (2014) पृष्ठ – 40
2. निर्मला पुतुल, बेघर सपने, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण – (2014) पृष्ठ – 40-41
3. श्री शम्भुनाथ जी, वागर्थ, सम्पादकीय, भारतीय भाषा परिषद, कोलकाता, अप्रैल 2022
4. निर्मला पुतुल, बेघर सपने, आधार प्रकाशन, हरियाणा प्रथम संस्करण – (2014) पृष्ठ – 85
5. निर्मला पुतुल, बेघर सपने, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण – (2014) पृष्ठ –52
6. निर्मला पुतुल, बेघर सपने, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण – (2014) पृष्ठ –53
7. निर्मला पुतुल, बेघर सपने, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण – (2014) पृष्ठ –53-54
8. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजाते शब्द, रुपान्तर अशोकसिंह, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली . सं. 2012, पृष्ठ – 77

राजेश जोशी की कविताओं में मानवतावाद

डॉ. अजित्रा आर. एस.
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, एस.एन. कॉलेज, चेंपषंती

बीज शब्द : बाजारवाद, नारीवाद, वैश्वीकरण, सूचना प्रौद्योगिकी, उपभोक्तावाद, शहरीकरण, संयुक्त परिवार, उदारीकरण, निजीकरण, मानवता आदि।

समकालीन साहित्य में प्रगतिशील विचारधारा के प्रख्यात रचनाकार एवं साहित्य अकादमी पुरस्कार विजेता राजेश जोशी का जन्म 18 जुलाई 1946 को मध्य प्रदेश के नरसिंहगढ़ में हुआ था। 'समरगाथा'(1977), 'एक दिन बोलेंगे पेड़' (1980), 'मिट्टी का चेहरा' (1985), 'नेपथ्य में हँसी' (1994), दो पंक्तियों के बीच (2000), 'धूपघड़ी' (2002), 'चाँद की वर्तनी' (2006), 'प्रतिनिधि कविताएँ' (2013), 'ज़िद' (2015) आदि उनके प्रसिद्ध काव्य संग्रह है। राजेश जोशी को उनकी कविताओं के लिए कई पुरस्कार से नवाजा गया है। उन्हें 1978 में 'समरगाथा' कविता केलिए मुक्तिबोध सम्मान, 1985 में 'मिट्टी का चेहरा' कविता केलिए माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार एवं 1986 में श्रीकांत वर्मा स्मृति सम्मान, समस्त लेखन पर 1996 में शमशेर सम्मान एवं 1998 में पहल सम्मान, 2002 में मध्य प्रदेश संस्कृत विभाग का शिखर सम्मान, 2002 में 'दो पंक्तियों के बीच' कविता संग्रह के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार, जनकवि नागार्जुन स्मृति सम्मान, मुकुट बिहारी सरोज सम्मान, शशिभूषण स्मृति नाट्य सम्मान आदि से सम्मानित किया गया है।

समकालीन कवियों में राजेश जोशी की विशेष पहचान है जिसमें उनका मुख्य स्वर जनवादी विचारधारा है। राजेश जोशी अपने समय और समाज के लोक जीवन को जनवादी विचारधारा की अभिव्यक्ति के माध्यम से अपने रचना संसार में मुख्य स्थान दिया हैं। कवि के रूप में राजेश जोशी का काव्य जगत उनके समय और समाज को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य है। उनकी कविता तत्कालीन भारतीय परिवेश की विसंगतियों को समाज के सामने रख उनके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण दिखाने के लिए प्रस्तुत करती है।

राजेश जोशी की कविताएँ समकालीन जीवन की तमाम बुराइयों और अंधविश्वासों को उजागर करने में सफल हैं। राजेश जोशी ने अपने काव्य में नगरीय जीवन की वास्तविकता का वर्णन किया है। बेरोजगारी की समस्या, अंधविश्वास, भूख-प्यास, शासन, महंगाई, निम्न वर्ग का संघर्ष, भ्रष्ट न्याय व्यवस्था, पारिवारिक भ्रष्टाचार आदि उनके काव्य में दृष्टिगोचर होते हैं। राजेश जोशी की कविताओं में वर्तमान राजनीति की कड़वी अंतर्दृष्टि है। नारी शोषण और दमन के कई बहुआयामी दृश्य इसमें हैं, जो आज की महिलाओं के जीवन की यथार्थवादी घटनाओं से संबंधित हैं। नारीवाद पर अपने व्यापक विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि पुरुष के जीवन में नारी की सबसे बड़ी और महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

वर्तमान भारतीय समाज की अनेक विसंगतियों और समस्याओं से मुक्त समाज की परिकल्पना उनके काव्य की प्रमुख चुनौती है। आतंकवाद, महिलाओं के संघर्ष, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता, धार्मिकता, गरीबी और बेरोजगारी के अलावा बाज़ारवाद, उपभोक्तावाद, वैश्वीकरण, प्रकृति आदि के सरोकारों को उनकी कविता में बहुत ही यथार्थ रूप से दर्शाया गया है। साथ ही उनकी कविता में मौजूदा बाजारवाद से उपजे संकट की पहचान करने के साथ-साथ बाजारवाद ने इंसान और इंसानियत का उपहास के प्रति रोष व्यक्त किया है। वैश्वीकरण का युग, जब सारा विश्व सूचना और ज्ञान, पद्धति और प्रौद्योगिकी के रूप में एक बड़े गाँव की ओर बढ़ रहा है, जहाँ सूचना का प्रवाह निर्बाध है और प्रौद्योगिकी के संसाधनों ने मनुष्य को यंत्रीकृत कर दिया है। समय के संकट के प्रति भय और

असन्तोष व्यक्त किया जो उनके प्रमुख काव्य संग्रहों में अभिव्यक्त हुआ है। -

"कई बार जब बाजार चीजों से लद जाते हैं

सामान में पैदा होने लगते हैं

नए-नए उपद्रव

चीज़े एक दिन इतनी ताकतवर हो जाती हैं

कि बनती जाती हैं उनकी स्वतंत्र सत्ता

तब आदमी नहीं, चीजें तय करने लगती हैं

आदमी का भाग्य!!!"1

बाजार संस्कृति आज हमारे सभी मूल्यों और मान्यताओं को बदल रही है। प्रौद्योगिकी के विकास ने मनुष्य को इतना छोटा बना दिया है कि उसके उत्पाद ही उसे नियंत्रित कर रहे हैं। जोशीजी न केवल मनुष्य के वस्तुकरण का विरोध करते हैं, बल्कि बाजार और वस्तु के आपसी उपद्रव से समाज पर पड़ने वाले प्रभावों की भी व्याख्या करते हैं। राजेश जोशी जी बढ़ता बाजारवाद और उससे उपजती समस्याओं पर प्रहार करते हैं। इस बाजारवाद ने अपनी कक्षाएँ बिस्तृत कर ली है। इसके गिरफ्त में हर कोई फस चुका है।

"बाजार पहले ही चुरा चुका था हमारी

जेब में रखे सिक्कों को

और अब वह सौदा कर रहा था हमारी भाषा

और हमारे सपनों का। "2

राजेश जोशी ने अपनी अभिव्यक्ति के माध्यम से शहरीकरण, बाजारवाद, वैश्वीकरण आदि से पैदा हुई विसंगतियों को बदलने के साथ-साथ नैतिक मूल्यों और मांनवता को बचाने का अथक प्रयास किया है। राजेश जोशी ने अपने शुरुआती काव्य में शहरीकरण और बाजार से उत्पन्न होने वाली कई समस्याओं का चित्रण किया, लेकिन जब राजेश जोशी के लेखन अपनी मध्य में आया तो वैश्वीकरण भारत की छवि बदल रहा था। इस बदली हुई तस्वीर और उसमें बदली परिस्थितियों को उन्होंने भरपूर जगह दी है। राजेश जोशी के संग्रह 'दो पंक्तियों के बीच' और 'चाँद की वर्तनी' इस बदले हुए समाज को दिखाने का सुखद प्रयास है। कवि राजेश जोशी ने अपनी कविता 'खोई हुई चीजें' के माध्यम से बदलती सामाजिक परिस्थितियों के कारण मानवीय मूल्यों में आए बदलाव को समझाने की कोशिश की है -

"बचपन की एक फोटो में मैं जिस तीन
पहिए की साइकिल पर बैठा था
वे साइकिल वहाँ पड़ी थी धूल से अँटी
हुई
उसका एक पहिया निकल गया था और
रंग उड़ गया था जगह जगह से
घिस घिस कर इतनी छोटी हो चुकी
पेंसिलें थीं कि जिन्हें
और अधिक छीला जाना संभव नहीं था
वहाँ बचपन की ड्राइंग कापियाँ जिनके
हर चित्र में
पेड़ हरे थे और उगता हुआ सूरज था
तब शायद हमने नहीं सोचा था कि
हमारी दुनिया में
इतना अंधेरा भी होगा कभी" 3

बेकार, नगरों में गंदी बस्तियों, संयुक्त परिवार में दरार, भुखमरी, बीमारी, गरीबी का नरक, मानसिक तनाव, न सुलझने वाली समस्याएँ, असुरक्षा, हत्यारों और अपराधियों की सक्रियता, अकेलापन, आत्मघाती स्थितियाँ और आत्मपरायण आदि समस्याओं का उजागर राजेश जोशी ने अपनी कविताओं द्वारा किया है।

अब दुनिया वैश्वीकरण के युग में प्रवेश कर चुका है। इस वैश्वीकरण ने पूरी दुनिया में औद्योगिक नीतियों को बहुत बढ़ावा दिया है। औद्योगीकरण के इस दानव ने समाज के स्वरूप को पूरी तरह से आर्थिक बना दिया है। वैश्वीकरण, मुक्त बाजार, उदार आर्थिक नीति और नई तकनीक और सूचना संचार की क्रांति ने सामाजिक और मानवीय संबंधों में एक नई उथल-पुथल पैदा कर दी। इस अशांत और बदलते भारतीय सामाजिक परिवेश को अपनी कविताओं के माध्यम से राजेश जोशी ने चित्रित करते हैं। समाज में पनप रहे नए सांस्कृतिक परिवर्तन को महसूस करते हुए जोशीजी ने इसे अपने काव्य में प्रस्तुत किया -

"नीचे खन खना रहा था
सारा सर्राफा सटोरियों की आवाज
चम चमा रहे थे निजी व्यवसाय में
सारे देश में फैल रहे थे
दिमागी बुखार के किटाणू
हाय ! चाँदी के एनाफलीज
सोने के वायरस
हीरे जवाहरात के बैक्टीरिया !!"4

विज्ञान ने दुनिया को दिन-ब-दिन छोटा कर दिया है। कवि इसे मोबाइल के माध्यम से बताता है लेकिन विज्ञान के

आविष्कार के हानिकारक प्रभावों को भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं-

"मोबाइल ! मोबाइल ! मोबाइल !
हमारे समय ने पैदा की थी यह सुविधा
जो बेरहमी से रौंधती चली जाती थी
दूसरों की निजिता"[5]

विज्ञान मानव जीवन को आसान बनाता है। साथ ही मनुष्य के व्यक्तित्व में बाधा उत्पन्न करते हैं, मनुष्य आलसी होता जा रहा है जिसके कारण वह अनेक प्रकार के रोगों से ग्रसित हो रहा है। विज्ञान जहां उपयोगी है, वहीं इसके कई नुकसान भी हैं।

"प्रोधौगिकी से मिली निजात ज्यादा
सुरक्षित थीं
और ज्यादा जटिल
उसमें ताक-झाँक करना बहुत आसान
नहीं था उसके अपने कूट संकेत थे।"[6]

महानगरों की भागदौड़ में मित्रता और आपसी मित्रता की शून्यता के भाव का सजीव चित्रण राजेश जोशी ने किया है। वैश्वीकरण शहरों से विस्थापित व्यक्ति के हृदय पर गहरा प्रभाव छोड़ रहा है। वह अपनी जड़ों से, अपने मूल से विस्थापित हो चुका है, और दर्द की अपार पीड़ा से ग्रसित होता जा रहा है -

"कहाँ हैं कहाँ है वह हवा महल
मेरे बचपन के उस मदरसे का क्या हुआ
उसकी लम्बी दलाने, उसके झरोखे,
उसके आँगन का क्या हुआ
वह विशाल जिसमें जेब की तरह एक
छोटा दरवाजा और था
जिसमें कूद कर अन्दर आते,
या तड़ी मारकर बाहर भागते थे हम -
क्या हुआ?"[7]

आधुनिक युग की औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम यह है कि आम आदमी स्वार्थ केन्द्रित हो गया है। इसी कारण आज संयुक्त परिवार का विघटन हो गया है। संयुक्त परिवार टूटने लगे और व्यक्तिगत परिवारों का महत्व बढ़ने लगा। संयुक्त परिवार से राजेश जोशी का लगाव काफी रहा है। इसीलिए उनकी कविताओं में संयुक्त परिवार की कहानी को अभिव्यक्त किया गया है। 'संयुक्त परिवार' कविता में कवि ने इस बात का मार्मिक चित्रण किया है कि कैसे एक छोटी सी घटना संयुक्त परिवारों को तोड़ देती है।

"मेरे आने से पहले ही कोई लौट कर
चला गया है
घर के ताले में उसकी पर्ची खुसी है
....
टूटने के क्रम में टूट चुका है बहुत कुछ,
बहुत कुछ
अब इस घर में रहते हैं ईन मीन तीन
जन। "8

संयुक्त परिवार का एक जमाना था जब घर में हर समय कोई न कोई होता था। कोई घर में लोगों का स्वागत करता था, जबकि आधुनिक समय में किसी के अचानक आ जाने पर घर में ताला लगा दिया जाता है। आजकल परिवार के सभी सदस्य सिर्फ एल्बम में ही साथ रहते हैं।

सूचना प्रौद्योगिकी की नई दुनिया पुराने आदमी को डराती है, तो बच्चे इस दुनिया में आसानी से अपना रास्ता ढूंढ लेते हैं। वे उनके खतरों और वहाँ से बाहर निकलने के तरीकों को भी जानते हैं -

"ये बच्चे उतने बच्चे नहीं.....
नई चीजों के बारे में ये हमसे बहुत
ज्यादा जानते हैं
हम जिन तकनीकी उपकरणों के सामने
पहुँचते ही
अचकचा कर ठिठक- से जाते हैं कुछ पल
ये बिना किसी हिचक से शुरू कर देते हैं
दबाना बटन उसके
न कोई घबराहट न गलती हो जाने की
कोई आशंका ....।"9

'हमारे समय के बच्चे' और 'खिलौना' शीर्षक वाली कविताएँ यह दर्शाती हैं कि कैसे तकनीकी उपकरणों और सूचनाओं से भरे इस युग में बच्चों की मासूमियत और बचपन खो गया है। खिलौनों के पीछे के मनोविज्ञान, बाजार व्यवस्था और तंत्र की चालों को 'खिलौना' कविता में उजागर किया गया है। पहले खिलौने मिट्टी और लकड़ी से बने होते थे जो सरल लगते थे और इसके लिए बहुत कौशल और कई रातों के सपनों की आवश्यकता होती थी। लेकिन आधुनिक युग तकनीक का युग है जहां बड़े-बड़े संस्थानों से उच्च शिक्षा प्राप्त कर युवा इंजीनियर हर चीज को पहले से ज्यादा सुंदर, बेहतर बना देते हैं, लेकिन धीरे-धीरे खिलौनों का बाजार नकली बंदूकों, मशीनगनों, पिस्तौलों से भर गया, यह हिंसक में बदलने लगा।

वैश्विक क्रांति ने जहां जीवन को सरल, आसान और सुलभ बना दिया है, वहीं इसने मानव अस्तित्व को भी खतरे में डाल दिया है। 'वैश्वीकरण', 'उदारीकरण', 'निजीकरण' ने अमीरों को और अमीर बनाया और गरीबों को और गरीब और भूखा बना दिया। वे 'कवि और प्रौद्योगिकी ' कविता में इस प्रकार लिखते हैं -

"मैं प्रौद्योगिकी का विरोधी नहीं
न ही उससे पलायन करके कहीं छिपना चाहता हूँ
लेकिन मैं एक कवि हूँ
और अपनी निजता और फुरसत के पलों को
गँवाना नहीं चाहता। "[10]

राजेश जोशी अपने समय की सच्चाई और वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण के कारण हुए परिवर्तनों की आक्रामक सच्चाई को अपने रचनाओं द्वारा व्यक्त करते हैं। राजेश जोशी किसान से लेकर बच्चे, मजदूर, निम्न वर्ग, लघु कुटीर उद्योग, पर्यावरण, शिक्षा व्यवस्था और साहित्य तक की अपनी परतों को न सिर्फ पहचानते हैं, बल्कि पीढ़ी दर पीढ़ी चल आ रहे दर्द की सच्ची तस्वीर भी पेश करते हैं। आज हमारी सभ्यता, संस्कृति, राष्ट्रवाद बस दिखावा बन चुके हैं। बाजारवाद एवं उपभोक्तावाद के इस युग में हर चीज़ बिकाऊ बन चुकी है। आज हर चीज़ों की हकिकत राजनीतिक स्वार्थ एवं आर्थिक चकाचौंध बन चुकी है। यहाँ नारे देश की जनता के लिए नहीं बल्कि उसमें इसे उलझाये रखकर अपना स्वार्थ निकालने का माध्यम बन चुके हैं। भाषा, संस्कृति, धर्म एवं राष्ट्र को हथियार बनाकर हमारे भावनाओं से खेलना इनका पसंदिदा काम बन चुका है। इसी कारण राजेश जोशी कहने के लिए मज़बूर हो जाते हैं-

"पानी को वाटर कहने से डूबने लगती है
जिनकी संस्कृति की नब्ज
उन्हें गंगा के साबुन में बदल जाने से
कोई एतराज नहीं।
महानुभावों वो कुछ भी बेच सकते हैं।
क्रांतिकारी गीतों का बना सकते हैं पॉप साँग
बेच सकते हैं एक साथ वंदे मातरम् और
कॉलगेट की मुस्कान
हानिकारक है संविधान की समीक्षा
इतिहास परिषद पर मंडराता खतरा
और सबसे हानीकारक है उसका
राष्ट्रवाद "[11]

राजेश जोशी के लिए कविता न केवल एक दृश्य लेख है बल्कि जीवन का उत्थान भी है जहां वह मानव सभ्यता के गंभीर संकट को पहचानते हैं और अपनी रचनात्मकता को जीवन के निचले स्तर से जोड़ते हैं। राजेश जोशीजी का काव्य सिर्फ काव्य नहीं बल्कि हमारे जीवन की हकीकत है। सन् 2000 के बाद वैश्वीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, बाज़ार और उपभोक्तावाद सहित जो भी बदलाव आए, राजेश जोशी इन सभी तहों को अपनी रचनाओं में गढ़ने के साथ-साथ इस उपभोक्तावादी समाज के बीच खोए मानवीय मूल्यों को बचाने की अपील भी करते हैं। राजेश जोशी की कविता हमेशा समाज को बेहतरी की संभावनाओं की ओर ले जाती है। ■

संदर्भ

1. नेपथ्य में हँसी - राजेश जोशी, पृ. सं. 60
2. चॉद की वर्तनी - राजेश जोशी, पृ. सं. 85
3. 'खोई हुई चीजें' - दो पंक्तियों के बीच, राजेश जोशी, पृ. सं. 19
4. मिट्टी का धूप- घड़ी, राजेश जोशी, पृ.सं. 175
5. सामायिक मिमांसा, अंक 2, पृ.सं. 57
6. जादूगरनी - चाँद की वर्तनी - राजेश जोशी, पृ. सं. - 57
7. एक से मकानों का नगर - चाँद की वर्तनी - राजेश जोशी, पृ.सं. 19
8. दो पंक्तियों के बीच - राजेश जोशी, पृ. सं. 54
9. चाँद की वर्तनी, राजेश जोशी, पृ.सं. 29
10. जिद्द, राजेश जोशी, पृ. सं. 55
11. चॉद की वर्तनी - राजेश जोशी, पृ. सं. 91

'बाज़ार' कविता में चित्रित बाज़ारू संस्कृति

डॉ.षर्लिन
सरकारी संस्कृत महाविद्यालय, तिरुवनंतपुरम

भारतीय संस्कृति का चरित्र सदैव से सर्वग्राही तथा सर्वसमावेशी रहा है। पूरी दुनिया भूमंडलीकरण, वैश्वीकरण, ग्लोबीकरण, उपभोक्तावाद आदि से ग्रसित है। भारत भी इसमें समा गया। कुमार अंबुज की कविता 'बाजार' में कवि ने भूमंडलीकरण की एक पक्ष- उपभोक्तावादी संस्कृति पर प्रकाश डाला है।

बाजारू संस्कृति पर प्रकाश डालते हुए कवि कहते हैं एक दिन हाथ में कुछ पैसे एरिअर्स में मिले तो बाजार जाने की इच्छा हुई। लेकिन जब बाजार पहुंचे तो लोगों की भीड जमी थी। लोग बहुत कुछ खरीद चुके थे। लेकिन उन्हें देखकर ऐसा लग रहा था कि जैसे उन्हें और बहुत कुछ खरीदना बाकी है।

"वहाँ बहुत-से लोग उठाए हुए थे
बहुत-सा सामान
'अभी बहुत कुछ बचा है खरीदने के लिए'.....
ऐसा भाव उनके पसीने से लथपथ शरीर से टपक रहा था।
वे बाजार बंद हो जाने की आशंका में कर रहे थे भागमभाग"[1]

आजकल की नई पीढ़ी आवश्यक आरामदायक तथा ऐश्वर्य पूर्ण चीज़ों को छांटने का विवेक खो चुकी है। सब चीज़ें अवश्य के रूप में बदल गया है। जरूरत से ज्यादा चीज़ें खरीदने के बावजूद उन्हें ऐसा लग रहा है कि और चीजें लेना बाकी है। और तो और उन्हें यह डर है कहीं दुकान बंद न हो जाए।

कवि पहले एक जनरल स्टोर्स में जाते हैं वह दुकान ऐसे - ऐसे चीजों से भरा था जो पहले टी वी में विज्ञापन के तौर पर देखा करते थे कवि कहते है---

" टूथपेस्ट और ब्लेड को छोड़कर वहां मुझे मेरे लायक कुछ ना मिला"[2]

कवि अपने पैसे से जरूरी चीजें ही खरीदना चाहते हैं। फिर कवि कपड़े की दुकान की ओर चल पडे। कवि ने वहां की भीड़ देखकर अपने लिए एक टोपी लेने का विचार भी छोड़ दिया। कवि फिर हलवाई की दुकान की ओर चल पड़े। वहां की भीड़ देखकर कवि को शंका हुई एक बार के ऑर्डर देने पर कोई ध्यान भी देगा या नहीं।

" भरी हुई थी शहर के बनियों और ताजा अमीरों से

मुमकिन ही न थी एक बार के आर्डर पर कोई सुनवाई"[3]

हलवाई की दुकान अमीरों से भरी हुई थी। सब कहीं भीड़ ही भीड़ थी। कवि फिर कहते हैं कि वे साड़ी की दुकान से गुजरे तो वहां स्त्रियों की भीड़ थी और तो और दवाई की दुकान में भी भीड़ ही भीड़ थी। कवि कहते हैं—

" और तो और दवाइयों की दुकान पर

स्वस्थ आदमियों की इतनी भीड़ थी

कि मुझे पेट में दर्द का अनुभव हुआ।"[4]

कवि यह सब हजम नहीं कर पा रहे थे। स्वस्थ लोग भी दवाई घर से दवाइयां खरीद रहे हैं। आजकल लोग ने बड़ी - बड़ी बीमारियों का जिक्र करना अपना स्टेटस बना लिया है। बड़े अभिमान के साथ बड़ी-बड़ी बीमारियों का नाम लेते हैं। कवि फिर कहते हैं कि वे बाजार में अमीर आदमी के समान नए पुराने सामानों की कीमत पूछते हुए एक दुकान से दूसरे दुकान पार करते गये। जूतों की दुकान से गुजरे तो एक सुंदर सैंडिल देखी। कवि को अपनी पत्नी याद आई लेकिन उसकी कीमत देख कर वे अपनी पत्नी को भूल गए।

" और इस वक्त था जूतों की दुकान के शो-केस के सामने

जहां लुभावने मॉडल्स के नीचे लिखी थी जोड़ी की कीमत

वहां सुंदर सैंडिल देखकर याद आए मुझे अपनी पत्नी के खुरदरे पाँव

मगर तीन सौ चालीस की पर्ची देखकर

मैंने पास से गुजरती एक औरत को ताकना शुरू कर दिया"[5]

कवि अपनी हैसियत से पैसा खर्च करना चाहते हैं लेकिन नई पीढ़ी के लोग ऐसा नहीं सोचते। वे बेहिसाब पैसा खर्च कर देते हैं। उपभोक्तावाद तथा ब्रांडेड संस्कृति भारत पर हावी होता जा रहा है। पुराने जमाने में मेले होते थे वहां बाजारें सजती थी। तरह-तरह के दुकानदार हलवाई, कपड़े की बिक्री

करने वाले, खिलौने वाले, सर्कसवाले, फेरी वाले आदि इस मेले में सम्मिलित

होते थे। आज दुनिया बदल गई है पहले पहल मेलें में अपने ही आस – पडोस के गांव वाले बाजार बसाते थे। मेले की रौनक बढाते थे लेकिन आज वैश्वीकरण के अर्थतंत्र ने एक वैश्विक गांव - ग्लोबल विलेज ही नहीं सिरजा एक वैश्विक सुपर बाजार खड़ा कर दिया है। आजकल देश के कोने कोने में मॉल(Mall) शुरू हो गए हैं। यहाँ पश्चिमी देशों के माल जैसे यू.एस. पोलो (US POLO), लेविज (LEVIS), एडीडास (ADIDAS) नाइक (NIKE) जैसे ब्रांडेड सामानों का बोलबाला है। इस मॉल में देसी चीजों की बिक्री न के बराबर ही देखा जाता है। सब पश्चिमी सभ्यता की ओर भागते दिखाई पड़ते हैं। सब विदेशी चीजें अपनाना चाहते हैं।

कवि कहते हैं वे कई सालों बाद बाजार गये। उनके आने या ना आने पर बाजार की रौनक में कोई कमी नहीं है ना भीड़ की कोई कमी है और तो और जों की कीमत में भी कोई कमी नहीं है।

"जैसे कि बताया मैं कई सालों बाद गया था बाजार
मुझे वहां पता चला कि मेरे ना जाने के बावजूद
लगातार इजाफा होता रहा है बाजार की भीड़ में
कीमतें बढ़ती रही है उसी अनुपात में
और कहीं कुछ कमी नहीं है"[6]

कवि कहते हैं आजकल उपभोक्ताओं की कोई कमी नहीं है बाजारू संस्कृति बढ़ती जा रही है। लोग अपने घर सामानों से भरना चाहते हैं। पैसों की कोई चिंता नहीं करते। इस प्रकार बहुराष्ट्रीय मल्टीनेशनल कंपनियों ने उदारीकरण, खुला बाजार, मुक्त बाजार जनित उपभोक्तावाद को जन्म दिया। इस उपभोक्तावाद तथा ब्रांडेड संस्कृति ने लोगों पर ऐसा जादू चलाया कि वे अपनी जेब देखे बिना ही क्रेडिट कार्ड द्वारा आवश्यक, अनावश्यक चीजें खरीदते हैं। दूसरों के सामने अपनी हैसियत दिखाने की चाव में गड्ढे पर गिरते जा रहे हैं।

संदर्भ

1. काव्य यात्रा, कुमार अंबुज – बाज़ार—पृष्ठ संख्या—127
2. काव्य यात्रा, कुमार अंबुज – बाज़ार —पृष्ठ संख्या—127
3. काव्य यात्रा, कुमार अंबुज – बाज़ार —पृष्ठ संख्या—127
4. काव्य यात्रा, कुमार अंबुज – बाज़ार —पृष्ठ संख्या—128
5. काव्य यात्रा, कुमार अंबुज – बाज़ार —पृष्ठ संख्या—128-129
6. काव्य यात्रा, कुमार अबुज – बाज़ार —पृष्ठ सख्या—129

भूमंडलीकरण और डॉ. ए. अरविंदाक्षन की कविता

('जंगल नज़दीक आ रहा है' के विशेष संदर्भ में)

डॉ. प्रिया ए.
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, के.जी. कॉलेज
पाम्पाड़ी, कोट्टयम

वर्तमान समय का भारत इक्कीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध में पदार्पण कर चुका है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद का मौजूदा दौर आज हमारे सामने उपस्थित है। इस माहौल में आम आदमी कई प्रकार की समस्याओं से उलझा हुआ है। इतना ही नहीं मानवीय मूल्यों के टूटन और विघटन भी चिंता के विषय बने हुए हैं। हमारी संस्कृति पर अपसंस्कृति का वर्चस्व देखने को मिलता है। बाज़ारवादी अर्थव्यवस्था का प्रभाव बढ़ रहा है। आज एक ओर अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी में भारतियों की उत्कृष्ट उपलब्धियाँ हैं तो दूसरी ओर गाँवों में आधारभूत सुविधाएँ प्राप्त नहीं होती हैं। मानवीयता मिट रही है। हमारी पूरी भारतीयता का परिदृश्य अनेक संकटों से जूझ रहा है। ऐसे मानवविरोधी समय को डॉ. ए. अरविंदाक्षन ने 'जंगल नज़दीक आ रहा है' शीर्षक अपने काव्य संकलन में स्थान दिया है। असामाजिकता को प्रतिरोधित करने का भरसक प्रयास इस रचना में हुआ है।

सामाजिक और वैयक्तिक जीवन पर उदारीकरण - निजीकरण एवं भूमंडलीकरण की परियोजनाओं के दुष्प्रभाव छाए हुए हैं। इन परियोजनाओं के कारण दुनिया के विभिन्न देशों के अमीर लोगों की संबद्धता और गरीब लोगों की विच्छिन्नता का षड्यंत्र रचा जाता है। वर्तमान समय के दृश्य को 'जंगल नज़दीक आ रहा है' शीर्षक कविता चित्रित करती है -

"आ रहा है एक घना जंगल
हमारी आवासीय व्यवस्था की तरफ
कुछ लोग
इस हद तक आशंकित और डरे हुए है
xxxxxx इसे रोकना अनिवार्य है
अब यह तय करने का वक्त आ गया है
जंगली जानवर मुख्य हैं
या
इनसान को बचाने का काम?"[1]

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया के कारण समाज में बेहद अमानवीय दबाव उत्पन्न हुए हैं। मानवीय संबन्धों के स्थान पर बाज़ार की प्रभुता बढ़ी। पूँजी सबसे शक्तिमान सिद्ध हुई। ऐसे विकल परिवेश में आम मनुष्य को बचाने का दायित्व कविता कर रही है। उपेक्षितों के प्रति संवेदनात्मक बिम्ब यहाँ उभरकर आता है।

संवेदनशून्यता, संवाद शून्यता, निस्संगता, स्वार्थपरता आज के भारतीय समाज में गहरे रूप में विद्यमान हैं। हत्यारा पूरी आज़ादी के साथ खुलेआम घूमता - फिरता है और निरपराध को कारागार में ठूंस दिया जाता है। हत्यारे को संविधानिक सुविधाओं के साथ मदद भी मिलती है। सत्ता की ओर से तमाम साधन-सामग्रियाँ जुटाए जाते हैं। ऐसे विकराल दृश्य को 'चित्र' शीर्षक कविता रेखाँकित कर रही है -

"कई क़त्ल के दृश्य भी
बिना किसी अनुमति के
मेरे चित्रों में समाहित हो गए
आखिर
मेरे चित्र में
न नील गगन था
न स्वच्छ सलिल था
न पक्षियों की उड़ान
न शीतल हवा
और न चहल-पहल
निपट गाढ़े रंग
जिनमें से खून रिस रहा था
जो सूख नहीं रहा था। "[2]

हमारे समाज में सत्ता और क्रूरता का व्यापार सभी क्षेत्रों में व्याप्त है। साम्राज्यवादी ताकतें समाज की जनता के विरुद्ध साजिश करते हैं। पूरे देश में लूटपाट की दानवलीला छायी हुई है। लूटने के लिए हिंसा का माहौल भी ज़रूरी बन गया है। हिंसा की अधिकता के कारण खून सूख नहीं रहा था। मनुष्य अपनी चारों ओर की प्रकृति से दूर खडा है।

समाज में धर्म के नाम पर भी कई समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। कवि

अपनी रचनाओं में युगीन सत्य एवं विडंबना को प्रस्तुत करते हैं। मानवीय संवेदनाओं के क्षरण के बारे में प्रश्न करनेवाली कविता है - 'लावारिस' –

"एक लावारिस मुर्दा शरीर
सड़क पर पड़े-पड़े सड़ रहा था
यह किसका है?
जात क्या है इसकी?
मजहबक्या है इसका?
यह कौन है?
यह कहाँ से आया होगा?
xxxxxxxxxxxxxxx
उसकी जात मौन है
मजहब मौन है
प्रदेश मौन है
लावारिस मुर्दा शरीर
सड़क पर सड़ता रहा। "3

राजनीतिक फायदे के लिए आजकल धर्म का प्रयोग चल रहा है। क्योंकि धर्म और राजनीति सदियों से व्यक्ति एवं समाज पर गहरा प्रभाव डालनेवाले विषय रहे हैं। इन दोनों विषयों के नाम पर हत्या एवं रक्तपात आम बात बन गई है। वर्तमान समय में विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा अपने राजनीतिक लाभों की पूर्ति के लिए सांप्रदायिकता का सहारा लिया जाता है। एक प्रक्रिया के रूप में राजनीति का सांप्रदायीकरण भारत में सांप्रदायिकता को बढावा देने के साथ-साथ देश में सांप्रदायिक हिंसा की तीव्रता को बढ़ाता है।

भूमंडलीकरण के वर्चस्व के बाद से ही आदिवासी समाज को राजनीतिक, आर्थिक व प्रशासनिक दृष्टि से मुख्यधारा समाज से जोड़ने की कोशिश की गई है। इस प्रक्रिया के कारण उनके शांतिपूर्ण जीवन में बाधाएँ उपस्थित हुईं। इसके साथ ही यह वर्ग कर्ज, बेरोज़गारी, गरीबी एवं शोषण व्यवस्था का शिकार हो गया। प्राकृतिक स्रोतों से वंचित वनवासीजीवन की जटिलता को 'अनंतयात्रा' शीर्षक कविता शब्दबद्ध करती है-

"प्रार्थना करनेवाले आदिवासी
जंगल भर की यात्रा करते हैं
दाल-भात के लिए
जंगली जानवरों के डर से
बच्चों को छिपाकर रखनेवाली
आदिवासी माऐं
भय से कोसों दूर की यात्राऐं
करती हैं
भविष्य के लिए। "4

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद संपूर्ण देश की भूमि पर साम्राज्यवादी ताकतों का अधिकार हुआ। फलस्वरूप जल,

जंगल और ज़मीन से इस वर्ग को बेदखल होना पड़ा। अपनी संस्कृति एवं परम्पराओं को आदिवासी समाज बिलकुल छोड़ना नहीं चाहता है। पर वैश्वीकरण की प्रक्रिया में उनकी जीवनशैली में भी सशक्त ढंग से हस्तक्षेप हुआ है।

भूमंडलीकरण के दौर में हमारी संस्कृति का बाज़ारीकरण हो चुका है। हमारे सदियों पुराने मानवीय सरोकारों और संस्कारों को तोड़ता जा रहा है। उत्तराधुनिक समाज पर बाज़ारवाद के प्रभाव को 'बाज़ारीकरण' शीर्षक कविता प्रस्तुत करती है -

"बाज़ारीकरण का विरोध करते-
करते
हर कोई बाजार बन गया है
हर किसी के पास
कोई शानदार चीज़ें हैं
चीज़े ही चीज़े
XXXX आजकल हर कोई
बेहतर बाजार है
बिकता खुद है
खरीदता खुद है। "5

बाज़ार और भूमंडलीकरण का संबन्ध अटूट है। भूमंडलीकरण ही बाज़ारवाद को पनपने का स्थान प्रदान करता है। बाज़ार में टिके रहने के लिए संपत्ति ही मुख्य होती है। वर्तमान समय में भूमंडलीकरण के समर्थकों का मुख्य लक्ष्य यही होता है कि विदेशी संस्कृति को हमारे ऊपर थोपना। इसके फलस्वरूप हमारी स्थानीय संस्कृति, परंपरा, रीति-रिवाज़ पर व्यवस्थित प्रहार होता है। बाज़ारवादी संस्कृति में मनुष्य या मानवीयता का कोई मूल्य नहीं होता। स्वार्थलोलुपता एवं मुनाफा कमाने की स्पर्धा ही समाज में मुख्य होती है।

भूमंडलीकरण के दौर में औद्योगीकरण के पारिस्थितिक तंत्र के कारण नदियाँ सूख रही हैं। नदियों के प्रवाह के कम होने का प्राकृतिक कारण ग्लोबल वार्मिंग है। इसके कारण भूजल संजय क्षमता घट रही है। वर्षा की मात्रा भी कम हो रही है। नदियों के सूखने की भयावह स्थिति को 'नदी हुआ करती थी' शीर्षक कविता दर्शाती है –

"हमारे गाँव की नदी
एक कहानी की तरह
स्मृतियों के संवारकर
आसपास बहती रहती है
फिर एकाएक ख़त्म हो जाती है
स्मृतियों में
XXXX नदी भी कहानी बनकर
लोगों की स्मृतियों में जीवित
रहती है

लोग कहते हैं
नदी हुआ करती थी।"[6]

नगरीकरण की प्रक्रिया के कारण गाँव पूर्ण रूप से गायब हो रहे हैं। शहरीकरण आज विकास का साधन तो है, परन्तु साथ ही साथ यह एक वैश्विक, आर्थिक, सामाजिक एवं पर्यावरणीय समस्या उत्पन्न कर रहा है। नदियों के सूखने के कारण एक कहानी की तरह स्मृतियों में वे जीवित रहेंगी। अगली पीढ़ी से हमें विवश होकर कहना पड़ेगा कि एक नदी भी हुआ करती थी।

भारतीय संविधान में प्रत्येक नागरिक को मौलिक अधिकार दिए गए हैं। इसके साथ ही कुछ कर्तव्यों का प्रावधान भी रखा गया है। संविधान के प्रति निष्ठा, आदर्शों के प्रति सम्मान, भारत की एकता और अखण्डता की रक्षा, भारतीयों में भाईचारे की भावना, संस्कृति का सम्मान व संरक्षण ये सभी नागरिक कर्तव्य ही होते हैं। वर्तमान समय में विसंगति यह है कि लोग अपने अधिकारों के प्रति सचेत तो है; पर कर्तव्यों को भूल ही जाते हैं। ऐसी त्रसित हालत को 'नागरिक बोध' शीर्षक कविता दर्ज करती है –

"त्रसित था में
नागरिक बोध से
इसलिए लिया मैं ने
सच का पक्ष
मुझे लगा
मैं आसमान की बुलंदियाँ छू रहा हूँ
xxxxxx दिन के उजियाले में
सह-नागरिकों ने
मेरे नागरिक बोध की प्रशंसा की
रात के अंधेरे में सह नागरिकों ने
गोली दाग दी
मेरे नागरिक बोध के सीने पर"[7]

अपने मूल कर्तव्यों का पालन करना ही नागरिकों का मुख्य दायित्व है। नागरिकों का कर्तव्य है कि संविधान का पालन करें, समाज में समरसता की भावना को बनाए रखें। पर दुर्भाग्य की बात यह है कि सामाजिक संस्कृति का संरक्षण सही ढंग से न हो रहा है और प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा भी नहीं हो रही। यह हमारे समय की सबसे भयावह त्रासदी ही है।

देश में तमाम योजनाओं के बावजूद भी पलायन पर विराम नहीं लगा पा रहे हैं। गाँव में मज़दूरों को काम न मिलने के कारण शहर की ओर पलायन करना पड़ता है। वास्तव में औद्योगिक विकास की योजनाएँ शहरों में होती हैं। पर बेरोज़गारी के कारण

मज़दूरों को पलायन करना पड़ता है। केरल में आनेवाले मज़दूरों की हालत को 'मज़दूर' शीर्षक कविता स्पष्ट करती है –

"बिहार से
किन-किन गांवों से पता नहीं
झारखंड से
किन-किन पर्वतीय प्रदेशों से
पता नहीं
xxxxx किन-किन गलियों से
पता नहीं
खचाखच भरी गाड़ियों में
ये मज़दूर आ रहे हैं
केरल में
उनका आना अजब लगता है
बस एक सवाल बाकी रहता है
इतने दूर से
मज़दूर बनकर ये क्यों आ रहे
हैं?"[8]

भारत में राज्यों के बीच आर्थिक और सामाजिक दोनों प्रकार के संतुलन होते हैं। इसके कारण आंतरिक प्रवासन का कार्य होता है। उच्च मज़दूरी मिलने के कारण ओडीशा, बंगाल, झारखंड, बिहार एवं उत्तर प्रदेश से खचाखच भरी गाड़ियों में मज़दूर केरल चले आते हैं। वैश्वीकरण की प्रक्रिया से उत्पन्न परियोजनाओं का सही रूप में प्रयोग न होने के कारण गाँव में रोज़गार के अवसर नहीं होते। मज़दूरों का जीवन बहुत ही दर्दनाक बन जाता है।

आज का समय बाज़ारवाद और जनतंत्र के संघर्ष का समय है। इसमें साम्राज्यवादी आकाँक्षा को पूरा करने के लिए कूट विचारों के समुच्चय से बना हुआ गुलामीपन छिपा हुआ है। इसमें मनुष्य के प्रति कोई आदर का भाव नहीं होता। बाज़ारवाद के इस विध्वंसात्मक ताकत से समाज को अवगत कराने के उद्देश्य से 'आज़ादी' शीर्षक कविता लिखी गई है। उन्होंने आज़ादी के वास्तविक अर्थ को यों व्यक्त किया है –

"हम आज़ाद हैं
गीत गाने के लिए
पुस्तकालय जाने के लिए
xxxxx हम आज़ाद नहीं है
सवाल उठाने के लिए
हम आज़ाद नहीं है
सच्चाई का पक्ष लेने के लिए। "[9]

नव उपनिवेशिक संस्कृति आज मज़बूत होती जा रही है। भौतिक साधनों की चकाचौंध ने मनुष्य को स्वार्थी बना दिया है। इसके साथ ही पनपती हुई उपभोक्तावादी संस्कृति ने आम-आदमी के मन में उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। बहुराष्ट्र कंपनियाँ इसका लाभ उठाकर बाजार

एवं मीडिया के माध्यम से आम जनता में उसका प्रचार-प्रसार कर रही हैं। जिसका प्रभाव जनमानस के मन-मस्तिष्क पर छा गया है।

डॉ. अरविंदाक्षन की कविता में भविष्य के प्रति आकाँक्षा का स्वर सदैव तरंगायमान रहता है। साथ ही असामाजिकता को प्रतिरोधित करने का नागरिक बोध भी जागरित होता है। कविता हमेशा न्याय का पक्षधर बनती है। मानवाधिकार के ध्वंस की रंगस्थली में उनकी कविता त्वरित वेग में उतरती है। इस तरह कविता अपनी ऊर्जा को स्थायी रूप से दर्ज करती है। साहित्य की सबसे संवेदनशील विधा का नाम कविता है। समाज की हलचल के संवेदनात्मक प्रतिफलन के कुछ सबूत कविता में प्राप्त होते हैं। समाज पर वैश्वीकरण के प्रभाव एवं प्रतिरोध की भावना को अत्यंत तन्मयता से उन्होंने अपनी रचना में शब्दबद्ध किया है। ■

संदर्भ

1. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - जंगल नज़दीक आ रहा है - जंगल नज़दीक आ रहा है - पृ. 11
2. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - जंगल नज़दीक आ रहा है - चित्र - पृ. 13
3. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - जंगल नज़दीक आ रहा है - लावारिस - पृ. 20
4. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - जंगल नज़दीक आ रहा है -अनन्तयात्रा - पृ. 22
5. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - जंगल नज़दीक आ रहा है - बाज़ारीकरण - पृ. 27
6. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - जंगल नज़दीक आ रहा है - नदी हुआ करती थी - पृ. 30
7. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - जंगल नज़दीक आ रहा है - नागरिक बोध - पृ. 36
8. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - जंगल नज़दीक आ रहा है - मज़दूर - पृ. 86
9. डॉ. ए. अरविंदाक्षन - जंगल नज़दीक आ रहा है - आज़ादी - पृ. 61

हिंदी दलित कविता : दशा और दिशा

हिमा एम.एन.
शोधार्थी, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय
शोध निर्देशिका
प्रो. एस.आर.जयश्री, हिन्दी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

शोधसार : समकालीन अस्मितामूलक विमर्शों में दलित साहित्य की अपनी अलग पहचान है। वर्ण व्यवस्था की वर्चस्ववादी सोच से समाज अब भी मुक्त नही है। हिंदी में दलित कविता एक प्रकार से विरोध और आक्रोश की धारा है। वह मनुष्यता की पक्षधरता पर खडा हैं। इस में समाज से बहिष्कृत और समाज द्वारा पीडित हो जानेवाले बेबस लोगों का ज़िक्र है। सदियों की छुपी को तोड़कर अब दलित उस रूढ़ बंधन से बाहर निकलने की कोशिश में हैं। उस संवेदना से हम दलित कविता को देख सकते हैं। नव दलित विमर्श और उसकी चुनौतियों की परिप्रेक्ष्य में दलित कविता का उत्तरआधुनिक पाठ इस आलेख का उद्देश्य है।

मूल शब्द : ब्राह्मणवाद,बाज़ारवाद,समता मूलक समाज, अलगाववाद,पूंजीवाद, नक्सलवाद, पुरुष वर्चस्व,विभाजन की राजनीति।

प्रस्तावना

दलित लेखन की नई धारा हिंदी साहित्य को नया आयाम दिया है।दलित कवि परम्परित काव्य प्रतिमानों को तोड़कर साहित्य के क्षेत्र में एक नए सौंदर्यशास्त्र की परिकल्पना की है। दलित कविता का मूल स्वर मनुष्यता है। दरअसल दलित साहित्य का महत्वपूर्ण लेखन अस्सी के दशक में हुआ है। इस समय ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, माता प्रसाद, लक्ष्मीनारायण सुधाकर, डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी, मलखान सिंह, कुसुम वियोगी, जयप्रकाश लीलवान,

रजनी तिलक और जयप्रकाश कर्दम आदि प्रमुख कवियों के रूप में उभरे हैं।इन कवियों ने कविता के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करते हुए भारतीय समाज में हो रहे वर्ण और जाति भेद पर आधारित शोषण के तीव्र प्रतिकार को रचनात्मक भाषा में व्यक्त किया।डॉ रमेशचंद्र चतुर्वेदी ने सही कहा है कि " दलित कविता में समाज के वर्ण व्यवस्था को थर्रा देने वाला कम्पन है, शोषण की बर्फ को पिघलाकर नदी बहा देने वाली गर्मी है ,और वर्ण और वर्ग की नींव को ध्वस्त एक समतामूलक समाज की एक नई इमारत खड़ी करने वाली वास्तुकला है।"1

आज देश में कई किस्म के दलित आंदोलन और विविध वैचारिक मुद्दे देख सकते हैं। इसलिए दलित अस्मिता के साथ इतिहास,राजनीति,सामाजिक व्यवस्था, वर्ण,वर्ग,जाति, धर्म आदि कई प्रश्न जुड़े हुए हैं।जिस प्रकार उत्तर-आधुनिकता ने सामाजिक संरचना को एक नया चेहरा दे दिया है उसी प्रकार नया दलित विमर्श भी समतामूलक समाज बनाने के लिए प्रतिबद्ध दिखाई देता हैं।दलितों की सबसे बड़ी समस्या वर्ण जाति व्यवस्था है।मनु ने मनुस्मृति नाम से ऐसा विधान बनाकर गैर ब्राह्मण पर जातिप्रथा थोपी जिससे आज भी दलित मुक्त नही है। 'क्रांति की पूजा' शीर्षक कविता में लक्ष्मीनारायण सुधाकर लिखते हैं :-

'मनुवाद मिटा दो दुनिया से तो मानवता पनपेगी'2

'कब बीतेगी युग काला' शीर्षक कविता में भी मनुस्मृति के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए लिखते हैं-

'मनुस्मृति की रीति-नीति, अब और सही नही जाती।'३

बाज़ारवाद को ग्लोबल ब्राह्मणवाद के रूप में परिभाषित करते हुए कृष्णदत्त पालीवाल लिखते हैं :- "दलित का नया अर्थ है गरीब देश तीसरी दुनिया के देश-जिन का शोषण पूंजीवाद या नव ब्राह्मणवाद करता है। जाति प्रथा का मारा दलित और नव सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का मारा दलित देश, अंग्रेजी भाषा से पिटती संसार भर की दलित भाषाएँ अस्मिताएँ अपने अस्तित्व की गुहार कर रही हैं। इस तरह दलित केंद्रवाद अपनी धुरियां छोड़ रहा है।"4

वर्ण व्यवस्था ने समाज में भय,अन्धविश्वास, जातिगत भेदभाव फैलाने के साथ-साथ भूख, गुलामी और अशिक्षा का भी जन्म ली। अपने अतीत का सहज अनुमान लगाक कँवल भारती

ने'आधुनिकता बोध' नामक कविता से कहते हैं :-

"यह आधुनिकता बोध
विस्मृति के गर्भ में छिपा हुआ उनका ऐतिहासिक बोध है,
जिसके सहारे वे स्मरण करते हैं उस युग को
जब ब्राह्मणों के सहारे जीते-मरते थे राजतन्त्र
उनके शापों से आतंकित रहते थे सम्राट
जिनके आदेश होते थे 'ब्रह्मवाक्य'
जिस पर आधारित होता था न्याय और शासन
ये कवि मुग्ध है
क्योंकि वह सवर्णों के भोगैश्वर्य का युग था
परिश्रम किये बिना ही उनको उपलब्ध था हर सुख
वे शासक थे,
सेवक थे शूद्र, भोग्या थी नारी।
वह अंधा युग था।"5

उस समाज में वर्तमान के साथ अतीत के पुरखे भी बोल रहे हैं।वह जातीय स्मृतियाँ, बिम्बों, प्रतीकों और मिथकों की सृष्टि कर रहे हैं। अन्याय और शोषण विद्रोह को जन्म लेते हैं। भारत का दलित वर्ग भी अब शोषण की जंजीरों से मुक्ति चाहती है।आगे वह छुपी नही रहना चाहते हैं। उनकी पसीने से अब अंगारे बह रही है।

श्रमजीवी समाज की उपेक्षा सामाजिक संरचना की सबसे बडी विडम्बना हैं। दिन रात परिश्रम करके भी भरपेट भोजन न मिले तो क्या फायदा?ओमप्रकाश वाल्मीकि की यह कथन महत्वपूर्ण हैं कि"बेगारी की प्रथा ने दलितों को घोर विपन्नता दी है। बेगारी यानी बिना मूल्य का श्रम। दिन-भर मेहनत-मजदूरी करके भी शाम को भूखा रहे, यह अभिशाप नहीं तो क्या है!"6

शोषण की अमर बेल,
दमन की महागाथा,
यातना के पिरामिड
उत्पीड़न की गंगोत्री
ऋणों का पहाड़
ब्याज का सागर
निरक्षरों के मस्तिष्क,
महाजनों की बही
रुक्कों पर अँगूठों की छाप
ऊटपटाँग
जोड़ घटा, गुणा भाग, देना
सब एक।"7

डॉ धर्मवीर की यह कविता शोषण का एक और चेहरा खींचता है।एक और जाति के कारण सामाजिक अस्वीकृति का प्रश्न है तो दूसरी और आर्थिक विपन्नता और उसके कारण बेगारी की समस्याएँ।बेगारी से भी वह मुक्ति चाहती है।नक्सलवादी आंदोलन

इसी भावना का उपज है।डॉ कुसुम वियोगी की नक्सलवादी शीर्षक कविता में भी यही व्यथा चित्रित है।कोई व्यक्ति हिंसा पर कैसे उतर आता है? नक्सल कैसे बन जाता है ?

"नौजवान का हाथ खून से सन गया
बेगारी से मुक्ति के
चक्कर में
नक्सलवादी बन गया।"8

दरअसल दलितों की चेतना को भी आज हाशिए में धखेल दिए जाने की षड्यंत्र चल रहे हैं। नव पूंजीवाद, वर्चस्ववाद ,नस्लवाद, और सांस्कृतिक अलगाववाद आदि दलितों शोषितों को और तबाह कर देता है। जहँ दलित साहित्यकर दलित सौंदर्यशास्त्र को गढ़ने में लगे हुए है जिसकी सतह को तहस नहस करने की क्षमता नाव उपनिवेशवाद को है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने नारी को भी बुरी तरह से प्रभावित किया है। रजनी तिलक नारी मुक्ति की सशक्त प्रवक्ता हैं। उनकी द्वारा रचित 'जीवन बदलेगा अवश्य'शीर्षक कविता में आशावादी दृष्टि दृष्टव्य है।

"सूरज निकलेगा अवश्य
जीवन बदलेगा अवश्य।"

'मुक्ति' कविता में वह कहती है

"मैं खुद से
आज़ादी चाहती हूँ
द्वेष, मोह-ममता,जीवन-मृत्यु, सुख-दुःख
जकड़न -मुक्त होना चाहती हूँ।"10

बचपन से सीखी जाती मर्यादा का पाठ को तोड़ कर वह खुले आसमान की तरफ उड़ना चाहती है। सचमुच यह पुरुष वर्चस्व के प्रति खोर विद्रोह है।अतीत के प्रति आक्रोश वर्तमान के प्रति असंतोष और भविष्य के प्रति आशा इनकी कविताओं में देख सकती है।नारी और दलित दोनों की संत्रास झेलने में अभिशप्त है दलित स्त्री।

ईश्वरीय सत्ता की महत्व को दलित कवि बार-बार नकारते हैं। वर्तमान समाज में सत्ता और धर्म शोषण का महत्वपूर्ण औजार है। धर्म के आड़ में ईश्वर का भय दिखाकर शोषण जारी रखता है। ईश्वरीय सत्ता पर सवाल करते हुए ईश्वर की मौत की घोषणा करते हैं कवि मोहनदास नैमिशराय।

"ईश्वर की मौत
उस दिन होती है
जब बनता है कोई मंदिर य मठ
जहाँ बैठता है कोई
ठग,
लुटेरा,
गुमराह करनेवाला।"11

ईश्वर के एजेंड के रूप में कार्य करने वाले ब्राह्मण पुरोहितों से कवि असंगघोष प्रश्न करता है

"बता तू और तेरा ईश्वर
इतना स्वार्थी क्यों है?" 12

दलित साहित्य के भीतर विभाजन की राजनीति से जुड़े प्रश्न भी आज महत्वपूर्ण है।दलितों की राजनीतिक चेतना का विकास क्रम डॉ. अम्बेडकर से लेकर बाबू जगजीवन राम, बुद्ध प्रिय मौर्य, मान्यवर कांशीराम, डॉ. के. आर नारायण, माता प्रसाद, बंगारू लक्ष्मण, बहन कुमारी मायावती, मीराकुमार, रामविलास पासवान, चन्द्रशेखर रावण और जिग्नेश मेवाणी आदि अनेक नाम लिए जा सकते हैं। समकालीन समाज में दलित राजनीति और साहित्य ने परिवर्तन लाने के साथ कुछ दलित नेता ब्राह्मणवाद के जाल में भी फँस जाते हैं। जिसका उदाहरण मलखान सिंह की कविता में है।

"उफ़! कैसा यह ताँता है
कि हमारी बस्ती का
जो भी चतुर सुजान
नगर को जाता है
डूबता है दल-दल में
जंगल के बीचों-बीच
एक नया ताड़ वृक्ष
और उग जाता है।"१३

आज सड़क से संसद तक सर्वत्र भ्रष्टाचार से युक्त है।कवि सुखदेव सिंह कश्यप भ्रष्टाचार के समाजशास्त्र को अच्छी तरह समझते हैं। उनकी कविता 'जनतंत्र के आस पास' में भ्रष्टाचार मुक्त समाज की आकांक्षा है।धर्म, पूँजी,और राजनीति सब मिलाकर किस तरह भ्रष्टाचार को पृष्टभूमि देती है इसकी अभिव्यक्ति इन कविताओं में हुआ है।

उपसंहार

दलित साहित्य ने हिंदी साहित्य को नया मोड़ दिया है। इस दौर में लिखी जा रही दलित कविताओं में सहानुभूति का कम, भोगे हुए यथार्थ का दस्तावेज़ अधिक है। इसका स्वर सच्ची संवेदना और गहरे दर्द का है। हिंदी की दलित कविता भारतीय समाज की विसंगतियों, दलितों के साथ हो रहे जातिवादी भेदभावों व अमानवीय अत्याचारों के प्रति विरोध की कविता है। दरअसल वह इस सामाजिक व्यवस्था को बदलकर समतामूलक बनाने की चाह में संघर्ष कर रही है। जिस प्रकार समाज में व्याप्त जातिवाद और पाखंड का विरोध दलित कविताओं में दिखाई देता है, उतना ही तीव्र विरोध आर्थिक-यौन शोषण को लेकर भी दिखाई देता है।दलित स्त्री अपनी

अस्मिता के लिए जद्दोजहद करती है।भूमंडलीकरण ने पुरानी संरचना को परास्त कर नई संरचनाएं बनाए हैं। नई विश्व व्यवस्था में सामाजिक ढांचा ही बदल गया है।दलित साहित्यकार दलित समाज के लिए एक अलग दायरे बना रहे हैं। अंततः कहा जा सकता है कि 'मुक्तिपर्व' की चाह में दलितों की रचनात्मक विद्रोह यूँ जारी रहेगा। ■

संदर्भ ग्रंथसूची

१ डॉ.रमेशचंद्र चतुर्वेदी, बीसवीं सती की हिंदी दलित कविता ,प्राक्कथन

२ लक्ष्मीनारायण 'सुधाकर',उत्पीड़न की यात्रा, पृ.सं. 62

३ लक्ष्मीनारायण 'सुधाकर',उत्पीड़न की यात्रा पृ.सं. 27

४ कृष्णदत्त पालीवाल,उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य ,पृ.सं. 168

५ कंवल भारती ,तब तुम्हारी निष्ठा क्या होगी,पृ.सं. 22

६ ओमप्रकाश वाल्मीकि, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ.सं. 76

७ www.kavitakosh.Org

८ डॉ. कुसुम वियोगी, व्यवस्था के विषधर, पृ.सं. 20

९ रजनी तिलक,पदचाप, पृ.सं.52

१० रजनी तिलक,पदचाप, पृ.सं.50

११ मोहनदास नैमिशराय,आग और आंदोलन, पृ.सं.59

१२ असंगघोष ,समय को इतिहास लिखने दो ,पृ. सं. 27

१३ मलखान सिंह, ज्वालामुखी के मुहाने,पृ. सं.95

भूमंडलीकरण और बाज़ारवाद के जुगलबंदी कवि :मंगलेश डबराल

रेवती . एस
शोध छात्रा, सरकारी महिला महाविद्यालय, तिरुवनंतपुरम

शोध निदेशक
डॉ. रश्मी कृष्णन, सहायक आचार्य, सरकारी कॉलेज, अंबलप्पुषा

वर्तमान दुनिया बाज़ार के पीछे पड़ गई है।जिसका प्रभाव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दिखाई देने लगा है। फिर वह वर्न भेद, जाति भेद और आर्थिक भेद रूप में मानवीय संवेदनाओं में हलचल पैदा कर रहा है।इतिहास को देखें तो ऐसे बाज़ारवाद या बाजारीकरण का पुराना पहलू है उपनिवेशवाद।जब दुनिया उपनिवेशवाद से मुक्त हो गई, तब एक सिक्के के दूसरे पक्ष की तरह पूंजीवाद का नया तरीका बाज़ारवाद, लोगों पर राज करने लगा।ऐसे बाज़ारवाद या बाज़ारीकरण के प्रभाव से भूमंडलीकरण आज अपनी जड़ेंमज़बूत करके विराजता है।

डॉ.श्रीमती विद्यावतिजी के अनुसार "भूमंडलीकरण एक मुक्त अर्थव्यवस्था है। भूमंडलीकरण से वस्तु और नौकरी में वृद्धि होती नहीं। उसका सारा बल अंतर्राष्ट्रीय व्यापार से वित्तीय अर्थव्यवस्था में वृद्धि होती है।"[1]

इसका तात्पर्य यह है कि भूमंडलीकरण के कारण अंतर्राष्ट्र व्यापार में जो प्रगति होती है, वह अपने राष्ट्र की आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विनाश की

राह दिखाती है।

समय आगे चलता ही रहता है, समय के साथ समाज और साहित्य भी।आधुनिक समय में तथाकथित विकास में उपभोक्तावादी संस्कृति अपना लाभ उठाती है तथा बाज़ार हमारे घरों के भीतर प्रवेशित हो चुका है। उसकी नज़रों में हम उपभोक्ता के सिवाय और कुछ नहीं हैं।साहित्य और समाज को समय के अनुरूप चलना पड़ता है।अतः बाज़ारवाद जो वृद्धि की चकाचौंध को ही विकास बता रहा है, उसके तिलस्म को तोड़ना ज़रूरी हो जाता है।समकालीन हिंदी कविता में यह चेतना दिखाई देती है। 21वीं सदी की हिंदी कविता का स्वर केदार, राजेश, मंगलेश तक सीमित नहीं है वह एक विशाल परिस्थिति को अपनाता है।मंगलेश डबराल जी जैसे कवि मानवीय मूल्य एवं पारस्परिक संबंधों में चेतना लाने केलिए लगातार प्रयासरत हैं, परंतु युवा पीढ़ी पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के रंग में रंग कर दिग्भ्रमित हो गयी है जिसकी अंतिम परिणति कुंठा और हताशा के रूप में दिखाई देती है।मंगलेश जी की कविताओं में ऐसे बाज़ारीकरण व भूमंडलीकरण का अनोखा चित्रण मिलता है।

बाज़ार वस्तुओं के क्रय-विक्रय का स्थल है, किंतु बाज़ारवाद एक मुनाफा केंद्रित विचारधारा है।यह हर वस्तु, व्यक्ति और विचार को बिकाऊ बना देना चाहता है।ऐसे बाजारीकरण का उदाहरण मंगलेश जी की'अभिनय' नामक कविता में मिलता है।

"बाजारों में घूमता हूँ निःशब्द
डिब्बों में बंद हो रहा है पूरा देश
पूरा जीवन बिक्री के लिए
एक नई रंगीन किताब है जो मेरी
कविता केविरोध में आई है
जिसमें छपे सुंदर चेहरों को कोई कष्ट नहीं
जगह-जगह नृत्य की मुद्राएं हैं विचार के बदले
जनाब एक पूरी फिल्म है लंबी
आप खरीद लें और भरपूर आनंद उठाएं"[2]

कवि यह बताना चाहते हैं कि पूरे देश बाज़ारों में बंद डिब्बे की तरह है।हर एक डिब्बा अपने को खरीदने वाले ग्राहक के इंतज़ार में है।ग्राहक इन डिब्बे और रंगों की तलाश में है जो अपने लिए आवश्यक है या नहीं, लेकिन ज़रूरी है खरीदना।बाज़ारीकरण की नई कूटनीति है।

बाज़ारवाद व भूमंडलीकरण, दुनिया कीकिसी भी जगह उत्पादित या बिके हुए सामान को हमारे सारे मार्केट

में उपलब्ध कराने का नया तंत्र है।इस तंत्र के बहाने अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में पूंजियों का अधिक लाभ आजमाया जाता है, लेकिन राष्ट्र या राज्य के आम आदमियों के जीवन और आर्थिकता नीचे गिर जातीहैं।बहुराष्ट्र कंपनियों केइस नये संपत्तिशास्त्र का भत्ता उन्हीं तक सीमित हो जाता है। पूरे राष्ट्र की आम जनता दरिद्रता के डिब्बे में कैद हो जाती है।लाभ अपने राष्ट्रीय नेताओं के जेब में और हानि राष्ट्र कीपूरी जनता की थाली में भरजाती है।इसलिए मंगलेश जी ने बताया है कि यह भूमंडलीकरण राष्ट्रीय षड्यंत्र के बिना संभव नहीं है।"हम एक राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय षड्यंत्र के शिकार हैं"[3] षड्यंत्र के बारे में बताते हुए कहा जा सकता है कि मनुष्य पागलों की तरह बाज़ार और विज्ञापनों के पीछे भागते हैं।आज विज्ञापन के अनुसार मनुष्य चीज़ों की ओर आकृष्ट होता है। अपनों केलिए खरीदता है, काश अपनों को बेचता है।इसलिए दुनिया को बाज़रीकरण का शिकार होना पड़ता है।

मोबाइल बाज़ार का नया आविष्कार है। पहले मोबाइल का उपयोग, केवल दूर देश के लोगों से बात करने के लिए था।परंतु आज विश्व का स्पंदन इस मोबाइल में है। लोग अपने प्रेमी की तरह हर जगह इसको लेकर जाते हैं। सोचते हैंकि मोबाइल के बिना जीवन मृत तुल्य है।आज का बाज़ार मोबाइल के स्क्रीनों तक सीमित रहता है।फलत: बाज़ार की हर एक वस्तु मनुष्य की उंगलियों पर अटल रहती है।मोबाइल के साथ एक जगह बैठकर ऑनलाइन में कोई भी चीज़ वह खरीद सकता है।तकनीकी और विज्ञान की जगह में इतनी प्रगति हुई है। इस प्रगति को पाठकों के सामने लाते हुए मंगलेश मोबाइल कविता द्वारा बताते हैं कि -

"वे अपने नए मोबाइलों को अपनी नई
प्रेमिकाओं की तरह देखते हैं
और उन पर बात करते हैं
* * * * * * * * * *

वे एक अंधेरे - उजले रेस्तराँ में घुसते हैं
और ज्यादा खाने और ज्यादा पीने का
ऑर्डर देते हैं
वे धरती का एक टुकड़ा खरीदने का
ऑर्डर देते हैं
वे जंगल पहाड़ नदी पेड़
और उनमें दबे खनिज को खरीदने का
ऑर्डर देते हैं
और मोबाइलों पर बात करते हैं।"[4]

इसलिए आज बाजारवाद की नीति के चलते, विकास के नाम पर विनाश की पटकथा लिखी जा रही है।इसको जनता के सामने लाने की प्रवृतियां हर साहित्यकार कर्मरत होकर किया करता है। तत्पश्चात बाजारीकरण और भूमंडलीकरण की विद्रूपताओं तथा

व्यथाओं को अभिनय, पागलों का वर्णन और मोबाइल जैसी कविताओं द्वारा मंगलेश जी लिखा करते थे।आनेवाली पीढ़ी के सामने रखी जानेवाली ऐसीचिंताएं एक ओर फिर व्यक्त करती हैं कि 'कवि क्रांतदर्शी' है और यहाँ कवि की ओर से समाज के लिए हर परिस्थिति में सिर्फ परेशानियां दिखा दी जाती हैं। ■

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मंगलेश डबराल व्यक्तित्व एवं कृतित्व, डॉ.श्रीमती विद्यावती जी.राजपूत, पृष्ठ सं - 100
2. kavıtakosh.org/kk/अभिनय/ मंगलेश डबराल
3. naısadak.org/ पागलों का वर्णन
4. kavıtakosh.org/kk/मोबाइल/ मंगलेश डबराल

आदिवासी कविता में प्रतिरोध की संस्कृति

कृष्णप्रीति ए आर

शोध छात्रा, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

शोध निदेशक

प्रो.एस.आर जयश्री,अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग,केरल विश्वविद्यालय

औपनिवेशिक भारत में नेहरू सरकार ने रूस विशेषज्ञों की सहायता से, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक विकास के उपलक्ष्य में औद्योगीकरण की शुरुआत की। इसके अन्तर्गत अनेक परियोजनाएं, जैसे बड़े-बड़े कारखाने, बड़े-बड़े बांध, बड़ी-बड़ीवन-योजनाएं, बिजली परियोजनाएं इत्यादि शामिल थीं। इस परियोजनाओं को साक्षात् रूप देने के लिए घने - घने जंगलों को साफ किया जाने लगा। लगभग नब्बे फ़ीसदी परियोजनाएँ आदिवासी इलाकों में ही साबित हुईं।इन सब के कारण आदिवासी अस्तित्व ही खतरे में आ गया। उनके जल, जंगल, ज़मीन को सार्वजनिक हित एवं विकास के नाम पर लिया जाने लगा। व्यवस्था द्वारा विकास के नाम पर की जानेवाली प्रवृत्तियाँ, आदिवासी के लिए विकास नहीं, अभिशाप था।

यह निर्विवाद है कि हर एक जन-समुदाय अपनी जीवन शैली का निर्माण अपनी परिस्थिति के अनुसार ही करता है। अर्थोपार्जन भी उसीके अनुसार चयनित एवं रूपायित है। वहां से बेदखल होने से उनकी पूरी जीवन शैली बदल जाती है। नई जगह में वे अपना सहज जीवन जी नहीं पाते।यह उन्हें अनेक समस्याओं की खाई में गिरा देता है। अब तक वे जीते आए जीवन से अलग, अन्य के द्वारा थोपा गया जीवन स्वीकारने के लिए विवश हो जाते हैं। आदिवासी के संदर्भ में उन्हें मजबूरन शहरीय जीवन जीने केलिए विवश किया जा रहा है। जबकि प्रकृति के साथ संवेदनात्मक ढंग से जुडे आदिवासी केलिए यह अत्यंत कष्टदायक है। वास्तव

में यह उनकी संस्कृति, भाषा, साहित्य, अर्थव्यवस्था, खेती, वास स्थान, कला आदि को खदेडना भी है।

जाहिर हैकि वैश्वीकरण से विकसित नयी अर्थव्यवस्था ने एक नए आंतरिक उपनिवेश में आदिवासी को बेदखल कर दिया।जिसने उन्हें दोयम दर्जे का नागरिक बना दिया।जब-जब आदिवासियों के अस्तित्व पर खतरा हुआ तब आदिवासी ने इसके खिलाफ अपना प्रतिरोध भी दर्शाया है, इतिहास इसका साक्षी है। अस्तित्व एवं स्वत्व को बचाने के लिए किए जाने वाले आदिवासी संघर्ष या प्रतिरोध को, सामाजिक व्यवस्था विकास विरोधी कहकर दबाने की कोशिश करती है।यह लड़ाई विकास विरोधी नहीं, बल्कि अपना स्वत्व बचाने के लिए किया जानेवाला प्रतिरोध है। यानी वर्चस्व एवं दबाव से बनी संस्कृतिके खिलाफ प्रतिसंस्कृति(counter culture) का निर्माण होता है।

इक्कीसवीं सदी की हिंदी आदिवासी कविता में सामाजिक व्यवस्था में उपेक्षित आदिवासी का चित्रण एवं प्रतिरोध है। इस आलेख का लक्ष्य भी इस तथ्यों पर प्रकाश डालना है।

बीजशब्द: इक्कीसवीं सदी की हिंदी कविता, प्रतिरोध, बंधुआमज़दूर, नक्सलवाद, शहरीकरण, आत्महत्या, औद्योगिकीकरण, बाज़ारीकरण, नारीशोषण आदि।

आमुख

उपनिवेश खत्म हो जाने पर भी भारत जैसी तीसरी दुनिया साम्राज्यवादी ताकतों से स्वतंत्र नहीं हुई।साम्राज्यवादी ताकतें अपना विकास के लिए तीसरी दुनिया पर दबाव डालती रहती हैं। ऐसे में तीसरी दुनिया को भी प्रकृति एंव संसाधन पर दबाव डालने के अलावा अन्य कोई विकल्प भी नहीं।इसका दुष्प्रभाव सबसे ज्यादा भुगतना पड़ता है, आदिवासी को। यानी खनिज संपदा के केन्द्र में रहनेवाले आदिवासी को वहां से उजाडे बिना इनका लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता। कॉरपरेट कम्पनियों से कमानेवाले अर्थ केलिए सरकार भी उनकी लक्ष्य पूर्ति केलिए पूरा सहयोग प्रदान करती है। इसीलिए सार्वजनिक हित के नाम पर उनसे उनकी ज़मीन वैध-अवैध तरीकों से छीनती जा रही है। सदियों से यह संताप वे सहते आ रहे हैं। उन्हें अपनी भूमि से निष्कासित करने के बाद उनका पुनर्वास एवं मुआवजा भी ठीक से नहींकिए जाते। "आदिवासी गांव हटाये गये, वे पूरी तरह उजाड़ दिये गये। लेकिन उन लोगों को कोई मुआवजा नहीं, कोई पुनर्वास नहीं। पुनर्वास का तो सवाल ही नहीं था उस समय। कोई

जानता ही नहीं था कि पुनर्वास नाम की चीज क्या होती है। यह पुनर्वास ऐसी चीज तो बहुत बाद में माँग के रूप में सामने आयी - आजादी के बहुत बाद। इससे पहले पुनर्वास नाम की कोई मांग नहीं उठती थी। जिस ताकतवर को जमीन चाहिए थी, वह ले लेता था।"[1] आज भी इन स्थितियों में खास परिवर्तन नहीं हुआ है। इस तरह वर्चस्ववादी ताकतों की घुसपैठ से आदिवासी पूरी तरह शोषित एवं पीड़ित है। आज अपने शोषण के खिलाफ, प्रतिरोध की संस्कृति का निर्माण 21वीं सदी की हिंदी आदिवासी कविता की खासियत है।

ज़ाहिर है कि आदिवासी लड़ाई अपने अस्तित्व को बचाने हेतु की जाने वाली लड़ाई है। कानून एवं नियम से उनसे छीन ली गयी मिट्टी, जल, ज़मीन सब को पुनः प्राप्त करने की लड़ाई है। परिजनों में छाई गरीबी को उन्मूलन करने की लड़ाई है। बुनियादी जरूरतों से वंचित होने के खिलाफ की लड़ाई है। यानी अस्तित्व को बरकरार रखने के लिए की जानेवाली इस लड़ाई को 21वीं सदी की हिंदी कविता आत्मसात कर अभिव्यक्ति दे रही है। इसलिए कलम से व्यवस्था बदलने का ख्वाब कविता में है;

"देखो कलम की धार
तुम्हारे लिए
हाँ तुम्हारे लिए
कलम मौसम बदलेगी
कलम मौसम बदलेगी"[2]

अस्तित्व- बचाव केलिए आदिवासी की सबसे बड़ी समस्या भूख है। इसके निवारण के लिए प्रतिरोध करने के अलावा उनके पास अन्य कोई विकल्प भी नहीं। जेसिन्ता केरकेट्टा की कविता 'भूख का आग बनना'में, आदिवासी की भूख, गरीबी, बेरोज़गारी के कारणों के खिलाफ प्रतिरोध का आह्वान है -

"पकती हुई गुनगुनाती है
और उठने लगती है
एक साथ कई घरों की आग
भूख के सारे कारणों के खिलाफ"[3]

जनजातियों में व्याप्त समस्याओं के उन्मूलन के नाम पर आज उन्हें मुख्यधारा समाज में शामिल करने की कोशिश जारी है। यानी बहुसंख्यक समाज में अल्पसंख्यक समाज को विलीनीकरण करने की प्रक्रिया के पीछे वास्तव में आदिवासी को अपनी जगह से खदेडने का उद्देश्य है। जिससे आदिवासी का पूरा जीवन खतरे में पहुंचा हुआ है। वास्तव में विलीनीकरण प्रक्रिया का असर ऐसा पड़ता है कि जैसे बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है तब छोटी मछली का नामोनिशान बचता नहीं। उसी प्रकार आदिवासी की भाषा, संस्कृति, साहित्य, परंपरा,

आचार-विचार, अनुष्ठान एवं कला विलीनीकरण प्रक्रिया में मरमिट जाता है। किन्तु आज आदिवासी इस तरह मरमिटने केलिए तैयार नहीं। यानी अपने पूर्वजों द्वारा दी गई ज्ञान, संस्कृति, भाषा आदि को बचाने के लिए वे एक साथ जंग लड़ने के लिए तैयार है। आज आदिवासी में यह समझ है कि उनकी प्रगति के लिए की जानेवाली अधिकांश योजनाएँ उनको हित से ज्यादा नुकसान पहुंचा रही हैं। अक्सर ऐसा होता है कि उनकी जरूरतों को समझे बिना ही उनके केलिए सरकार योजनाएं बनी जा रही हैं। उन्हें सुख सुविधाएं प्रदान करने से उनकी समस्या दूर नहीं हो सकती जिसके लिए उनकी मानसिक जरूरतों को भी समझना बेहद जरूरी है। वरना समस्या के उन्मूलन केलिए की जानेवाली प्रवृत्तियों का असर उल्टा पड़ सकता है। महादेव टोप्पो की कविता 'ज्ञान' इस दुरवस्था को व्यक्त करने के साथ प्रतिरोध स्वर में कहती है कि हर बार बड़ी मछली छोटी मछली को निगल नहीं सकती।

"लेकिन दर्द है पैरों में
तो करते हैं इलाज पेट का
और जब बताता हूं पेट में है दर्द करते हैं
इलाज सिरदर्द का
फैल गई है तरह-तरह की बीमारी
जानो दोस्त की बीमार मन से
कर सकते नहीं कभी
न किसी आदमी और ना किसी देश का
इलाज
की बार-बार बड़ी मछली छोटी मछली
को निकल नहीं सकती
बदहाली देखकर अपने पूर्वजों का
हो रहा है ज्ञान अपनी सुरक्षा का"[4]

ज़ाहिर है, मुनाफे पर अधारित वर्ग आदिवासी संपदा को निगलने का मौका ढूँढता रहता है। यानी बड़ी- बड़ी कारपरेट कंपनियों की नज़रबंदी है उनके जल, मिट्टी, ज़मीन, खेत पर।इस तरह यह वर्ग आदिवासी वर्ग के ध्वंस के इच्छुक एवं कारक बन गया है। जेसिंदा केरकेट्टा की 'गिद्ध दृष्टि' कविता में कॉरपरेट कम्पनियों को अपने आकाश में मंडराती 'गिद्ध' कहकर वे कहती हैं –

"आकाश में गिद्ध मंडराने लगे
खेत अधजले बीजों को सीने में छुपाए
चीत्कार उठे-
नोच खाने कीजिनकी प्रवृत्ति हो
ऐसी - गिद्ध दृष्टि
लाशें ही तलाश सकती हैं!"[5]

मुनाफे को लक्ष्य करके अपनी मिट्टी से खदेड़ दिये जाने पर आदिवासी समाज को आक्रोश है। जिस मिट्टी का संरक्षण सदियों से वे करते आए हैं वहाँ से निकाल दिया जाना अब उन्हें बर्दाश्त नहीं है। व्यावसायिक लाभ केलिए बना रहे स्टेडियम, बाँध जैसी योजनाओं से उनकी संस्कृति एवं प्रकृति को भी

नुकसान पहुंचा है। अपनी मिट्टी से उखाड़ने से वे स्वयं से अलगाव महसूस करते हैं। सभ्य समाज का ढोंग रचने वाला समाज मशीन के दांतों से मात्र प्रकृति को नोच नहीं रहा, बल्कि मिट्टी के साथ जुड़े आदिवासी को भी चबा रहा है। मशीनों की नोक से उनकी मिट्टी, पेड़-पौधे, जल, जंगल का भी दफन हो रहा है। स्वत्व नष्ट हो जाने के दर्द को जेसिन्ता केरकेट्टा इस प्रकार अभिव्यक्त करती है –

"मैं कुरुआ में सो रहा था
अचानक जमीन हिलने लगी
देखा
जमीन उखाड़ती मशीन के पजों पर
अपने खेत को
उस टुकड़े के साथ
मैं भी लटका था मशीन पर
तब महसूस हुआ मुझे
अपनी ज़मीन सहित उखड़ जाने का दर्द "6

आगे की पंक्ति में आदिवासियों की जमीन कॉरपरेट बेनामी लोगों के द्वारा बिके जाने के खिलाफ भी आवाज़ उठाती है। कंपनियों के प्लांटेशन से जंगल एवं मिट्टी की नैसर्गिकता नष्ट होकर कृत्रिमता भरजाती है। यानी गाँव शहर बनते जा रहे हैं जिससे आदिवासी चिंतित एवं परेशान हैं।आज उन्हें पूर्वजों द्वारा संरक्षित हर चीज़ का परवाह है। पूर्वजों द्वारा प्रदान की गयी तथा बाजारीकरण से नष्ट होने वाली प्रकृति के महत्व को आदिवासी अच्छी तरह समझते हैं। वहां उगती हर एक चीज़ से आदिवासी संवेदनात्मक ढंग से जुड़े हुएहैं। व्यावसायीकरण एवं बाज़ारवाद के तहत उनकी हर चीज बाजार में माल बन कर बिकी जा रही है। ये प्रवृत्तियाँ घातक परिणाम लेकर आएँगी। प्रकृति में हर चीज का अपना महत्व एवं अस्तित्व है। क्योंकि प्रकृति के सब आपस में श्रृंखलांबद्ध हैं। इन सारे तत्वों को समेटकर ही आदिवासी संस्कृति का निर्माण उनके पूर्विकों द्वारा हुआ है। इसलिए उनकी मान्यताएं अंधविश्वास नहीं हैं, बल्कि प्रकृति एवं स्वत्व के बचाव के लिए पिरोया गया शाश्वत सत्य है। इस बचाव को सूचित कर कविता बांस को तीर धनुष बनने की ओर इशारा करती है। साथ ही अपने अस्तित्व को बाजारीकरण के नीचे दबे जाने से रोकती है –

" मेरे पूर्वजों की देह
टुकड़ों में काटी जा रही थी
मैंने देखा उन्होंने करोड़ों में
बिकते हुए
खरीदारों की भीड़
नीच शहर बन गई थी
लगा मेरे ही शरीर का हिस्सा
कतरे में बिक रहा हो
पीढीयों का भविष्य
पहाड़ों की तलहटी में
बेच रहा था बांस
तब छूटते ही मशीन के पन्नों से

मैं ने उठा लिया बांस बासार नहीं
जाएगे
जंगल के अंदर वे
बनेंगे हर हाथ का तीर- धनुष
तब पहली बार समझ में आया
पूर्वजों के रक्त से सिंचित
पहाड़ों पर उगे
असंख्य बाँसों का रहस्य"[7]

जब आदिवासी प्रकृति संरक्षण एवं अस्तित्व-बचाव के वास्ते वहाँ आनेवाली योजनाओं को रोकतेहैं तब उन्हें कई तरह का लालसा देकर इन योजनाओं की पूर्ति की जाती है। मिसाल केलिए आदिवासी इलाकों में निर्मित बहुराष्ट्रीय कंपनियां जिसकी स्थापना आदिवासी को रोजमर्रा देने के नाम पर की जाती है। किंतु कंपनी मुनाफे को लक्ष्य कर के ही स्थापित की जाती है। वास्तव में आदिवासियों के विरोध को रोकने के लिए ऐसे झूठे वादे और आश्वासन दिए जाते हैं। आदिवासी को कहला-फुसलाकर कारखाना स्थापित करने के बाद इन सब का नज़रअन्दाज करते हैं। आदिवासी को यह कहकर दूर कर दिया जाता हैकि वे अनपढ़ हैं, उनमें प्रौद्योगिकी ज्ञान का अभाव है इत्यादि। क्या ये बातें निर्माण से पहले वे जानते नहीं थे? तो स्पष्ट है कॉर्पोरेट कंपनी की स्थापना निजी स्वार्थता पूरा करने के लिए मात्र की जाती है। अन्यतः आदिवासियों की गरीबी को मिटाना या उन्हें काम देना उनका कोई लक्ष्य कदापि नहीं है। वहां नैतिकता जैसे मूल्यों की अहमियत नहीं है। "ऐसे लोग हैं कि आज यहाँ कंपनी खोली, चल रही है। दस साल से मुनाफा कमाया फिर दूसरी जगह चले गये। कल अफ्रीका में खोल लेंगे। परसों ऑस्ट्रेलिया में खोल लेंगे। जहां मुनाफा वहीं कंपनी, वहीं विकास।"[8] आदिवासी द्वारा संरक्षित वन भी मुनाफे के तहत खारिज हो रहे हैं। जो पूरी पृथ्वी को खतरे में डाल रहा है। पृथ्वी का धड़कन समझने वाला यह समुदाय भविष्य के खतरे को समझ कर, उसके बचाव के लिए जुडता है या आन्दोलन करता है तो उन्हें दबाने की कोशिश सरकार एवं कॉर्पोरेट कंपनियाँ करती रहती हैं। आदिवासी में उभर रही जागरूकता से परेशान होनेवाली व्यवस्था का चित्रण महादेव टोप्पो अपनी कविता में इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

"परंतु अब वह नजरों में तुम्हारी हो गए
हैं बुरे
उग्रवादी आतंकवादी दिग्भ्रमित
बुद्धिहीन
और ना जाने क्या-क्या
हां उनमें आ गई है अब एक बुराई
वे कुछ कुछ सोचने लगे हैं
कुछ कुछ बोलने लगे हैं
कुछ कुछ मांगने लगे हैं"[9]

साम्राज्यवादी अपना उत्पादन एवं वितरण अधिक लाभ एवं कम खर्च में करना चाहते हैं। ऐसे में सस्ते मजदूर और उत्पादकों को ढूंढते रहते हैं। आदिवासी इस नज़र से सस्ते हैं। आदिवासी को सस्ते मज़दूर के रूप में प्रयोग करनेवाली अमानवीयता के खिलाफ प्रतिरोध 'चुडका सोरेन से 'में इसप्रकार है

" इसलिए चुप नहीं रहूंगी अब
उगलूंगी तुम्हारे विरुद्ध आग
तुम मना करोगे जितना
उतनी ही जोर से चीखूँगी मैं
मुझे पता है
झल्लाकर उड़ाओगे पत्थर
और दे मारेगे सिर पर मेरे
पर याद रहे नहीं टूटूँगी इस बार
बिखरूंगी नहीं तिनके की भांति
तुम्हारे भाई की आँधी से
अबकी फूटेगा नहीं मेरा सिर
चकनाचूर हो जाएंगे बल्कि
तुम्हारे हाथ के पत्थर
और अगर किसी तरह हारी इस बार भी
तो कर लो नोट दिमाग की डायरी में
आज की तारीख के साथ
की गिरेंगी जितनी बूंदे लहू की धरती पर
उतनी ही जन्मेगीं निर्मला पुतुल
हवा में मुट्ठी - बँधे हाथ लहराते हुए!"[10]

निष्कर्ष

जाहिर है, आदिवासी ज़मीन पर कानूनी कब्जा अंग्रेजी शासन से शुरू हुआ।उसी की नब्ज़ पकड़ कर आज सरकार, कॉर्परेट कंपनी, भूमाफिया और भूमि सुधार विभाग के भ्रष्ट कर्मचारी, आदिवासी को अपनी मिट्टी से उजाड़ रहेहैं।इन सारी विसंगतियों का चित्रण कर आदिवासी को सामाजिक सांस्कृतिक तौर पर मुक्ति दिलाना 21वीं सदी की हिंदी कविता का लक्ष्य है। ■

संदर्भ सूचि, आधार ग्रंथ

1. आदिवासी प्रतिरोध, केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स, 2017 पृ.सं.55
2. एक और जमीन शिकार (कविता संग्रह), ग्रेस कुजूर पृ.सं 49
3. केरकेट्टा जेसिन्ता, अंगोर (कविता संग्रह), अनुज्ञा बुक्स पृ.सं 29
4. जंगल पहाड़ के पाठ(कविता संग्रह), महादेव टोप्पो, अनुज्ञा बुक्स पृ.स..68

5. अंगोर (कविता संग्रह), जेसिन्ता केरकेट्टा, अनुज्ञा बुक्स पेनं 24
6. अंगोर(कविता संग्रह), जेसिन्ता केरकेट्टा, अनुज्ञा बुक्स पृ.सं 78
7. अंगोर, जेसिन्ता केरकेट्टा, अनुज्ञा बुक्स पृ.सं 78
8. आदिवासी प्रतिरोध, केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स, 2017 पृ.सं.95
9. जंगल पहाड़ के पाठ, महादेव टोप्पो, अनुज्ञा बुक्स पृ.स.21
10. नगाड़े की तरह बचते हैं शब्द, चुडका सोरेन से, निर्मला पुतुल भारतीय ज्ञानपीठ पृ.स 90

<u>सहायक पुस्तक</u>

1. परंपरा इतिहास - बोध और संस्कृति, श्याम चरण दुबे राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड(2019) 2022
2. आदिवासी चिंतन की भूमिका गंगा सहाय मीणा, अनन्य प्रकाशन (2017)2019

आदिवासी कविता में प्रतिरोध की संस्कृति
वैश्वीकरण के संदर्भ में मैथिली शरण गुप्त की कविता 'मनुष्यता' : एक पुनर्पाठ

अंजिता जे एम
शोधार्थी, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय
शोध निर्देशिका
प्रो. एस.आर.जयश्री, हिन्दी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

शोध सार: आज के उपभोक्तावादी दौर में मानव जीवन और समाज पर पड़ रहे उसके बहुरूपी प्रभावों का बारीकी से समझना बेहद जरूरी है। उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रसार में सहायक बाज़ार आज समाज पर हावी होता जा रहा है। समाज में अशांति फैल रही है और मनुष्य एक दूसरों से नफ़रत करना शुरू हो गया है। दूसरों की भलाई करना और उनके दुःख दर्द को समझने का भाव खो रहे हैं। इसलिए ही राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की कविता 'मनुष्यता' इस इक्कीसवीं सदी के समय पर भी प्रासंगिक नज़र आते हैं।

बीज शब्द: वैश्वीकरण, उपभोक्तावाद, मानवीय मूल्य, सामाजिक बदलाव।

मुख्य आलेख : उत्तराधुनिक विज्ञानवादी यंत्रयुग के समाज और व्यक्ति के विचारधारा में बदलाव आया है। आज मॉडर्निटी का मतलब कुछ और ही समझा जा रहा है। मानवीय मूल्यों का तिरस्कार करना और वैश्वीकरण की सुविधाओं का मजा लेना मॉडर्निटी समझ रखा है। पारंपरिक जीवन मूल्य तेज़ी से बदल रहे हैं। यह भी सत्य है कि मानवीय मूल्यों का उद्गम स्रोत बदलते रहना और इसका असर समाज में पड़ना स्वाभाविक हैं। फलस्वरूप बुद्धिजीवी वर्ग को लगातार मानवाधिकार का

पैरोकार बने रहना पड़ता है। वैश्वीकरण ऐसी एक विचारधारा है, वह हमें कुछ सोचने केलिए मज़बूर बनाता है और मानवीय संवेदना में खाई पहूँचाता है। वह हमारी सांस्कृतिक धरातल पर हस्तक्षेप करता है। "साहित्य मनुष्य का ही कृतित्व है और मानवीय चेतना के बहुविध प्रत्यन्तरों (Responses) में से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रत्युत्तर है। इसलिए हम आधुनिक साहित्य के बहुत-से पक्षों को या आयामों को केवल तभी बहुत अच्छी तरह समझ सकते हैं जब हम उन्हें मानव मूल्यों के इस व्यापक संकट के सन्दर्भ में देखने की चेष्टा करें।"[1]

जीवन को गहराई से प्रभावित करने की क्षमता साहित्य में है। उसका प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः जीवन मूल्य होता है जिसमें मानवीय मूल्यों का विशेष महत्व होता है। साहित्यकार अपने समय और परिस्थितियों से हमेशा प्रभावित होता है। साहित्य में तत्कालीन समय का राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि मुद्दों का महत्व होता है। उसके अनुसार वह एक जीवनदृष्टि का निर्माण करता है। जिन मूल्यों को एक साहित्यकार अपने अंतकरण में धारण करता है उनके साहित्य में भी वह प्रतिबिंबित होता है। साहित्यकार अपने जीवन मूल्यों से समाज को गति भी प्रदान करता है। इसलिए ही उन्हें कभी युग सृष्टा या युग दृष्टा के रूप में माना जाता है। एक कृति की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करते समय हमें उसे अपने समय के संदर्भ में देखना चाहिए और उसकी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए। इसके अलावा, एक कृति की प्रासंगिकता उस समय की विचारधारा, मूल्यों, और इसे लिखने वाले कलाकार के जीवन से भी संबंधित हो सकती है। । जो रचना अपने समय का बहुत गहरा और मार्मिक मूल्यांकन करती है वह रचना कालजयी होती है। कुछ रचनाएँ हर युग में अपनी लोकप्रियता को बरकरार रखती है। "किसी कृति को उसके जड़ पाठ से मुक्त करना ही उसकी प्रासंगिकता है। 'जड़ पाठ' शब्द से एतराज़ हो तो 'नित्य पाठ कह लीजिए। नित्य अर्थात् समयसिद्ध। मुक्ति पाठ से ही नहीं, संदर्भ से भी। संदर्भ वह इतिहास है, जिसमें कोई कृति जन्म लेती है और उस इतिहास के साथ आगे भी विकसित होती है। यह विकास ही उसकी मुक्ति है।"[2]

भारतेंदु युग से ही हिंदी में नवजागरण की जो लहर फैली, उसके मुख्य स्वर के रूप में मानववाद की

प्रतिष्ठा भी हुई। इस युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में मैथिली शरण गुप्त को ले सकते है। उन्होंने अपने समय का युग मूल्यों और प्रवृत्तियों को काव्यान्वित करने का प्रयास किया था। भारत के अतीत और वर्तमान दोनों को उन्होने अपने कविताओं में समेटा है। इनकी कविताएं भारतीय संस्कृति और मानवतावाद की उद्घोषक है। "गुप्त जी प्रकृति के कवि नहीं हैं और न व्यापक अर्थों में उन्हें सौन्दर्य का कवि कहा जा सकता है। मूलतः वे मानव-रागों, मानव-सम्बन्धों के कवि हैं। इस दृष्टि से उन्हें वाल्मीकि, व्यास, भवभूति, तुलसी, भारतेन्दु की परम्परा का रचनाकार कहा जा सकता है। "[3]

कविता 'वैश्वीकरण' और 'उपभोक्तावाद' के चंगुल से मानव को बचाने का हर संभव प्रयास कर रही है। क्योंकि अंततः वे केवल साम्राज्यवादी नीतियों के हितों की पूर्ति करते हैं। । प्रमुख आलोचक कमला प्रसाद के अनुसार पिछले वर्षों में भूमंडलीकरण की मनुष्यविरोधी नृशंसता और बाजार का सर्वग्रासी रूप हमारे घरों और हमारी चेतना में, हमारे सौंदर्य-बोध में, हर जगह काली छायाओं से पसरते चले गए हैं। नतीजा यह है कि सामाजिक जीवन की पूरी संरचना ही बिगड रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति समाज में वर्गों की दूरी बढ़ाई फलस्वरूप सामाजिक संबंधों में बदलाव आया। मैथिली शरण गुप्त की कविता 'मनुष्यता' आधुनिक वैश्विक समाज में महत्वपूर्ण है और उसकी प्रासंगिकता आज भी बरकरार है। "यही एक कलाकृति की प्रासंगिकता की सबसे कठोर परीक्षा और सबसे विश्वसनीय कसौटी है कि वह हमें इतिहास के सतत प्रवाह से एक क्षण के लिए बाहर ले आती है ताकि हम स्वयं अपने को उसमें बहता हुआ देख सकें। एक योगी की तरह नहीं, जो धारा को असम्पृक्त भाव से देखता है; एक मार्क्सवादी चिन्तक की तरह नहीं, जो मनुष्य को धारा के भीतर डुबो देता है बल्कि एक ऐसी अन्तर्दृष्टि, जिसमें मनुष्य एक साथ ही धारा का द्रष्टा भी है और उसका अंग भी जहाँ वह समय के सतत प्रवाह के भीतर स्वयं अपनी जीवन-धारा की दिशा, गहराई, उथलापन-दो शब्दों में कहें- अपनी माया और यथार्थ को चीन्हने की रोशनी पा लेता है। "[4]

'मनुष्यता' कविता एक ऐसा संदेश देती है कि सभी मनुष्यों को समान अधिकार होनी चाहिए और हमें सभी के साथ बराबर व्यवहार करना चाहिए। इस कविता में वे मानवता के

मूल्यों, समानता और अस्तित्व को व्यक्त करते हैं। उनके अनुसार मानव जीवन तभी सार्थक होता है जब वह दूसरों के काम आए। उदार मनुष्यों का हर जगह गुण गान होता है। वह हर जगह सम्मान पाता है। पूरी धरती उस महान व्यक्ति की आभारी रहती है। उसके मरने के बाद भी हमेशा वह जीवित व्यक्ति की तरह होती है और सारी सृष्टि उसकी पूजा करती है। यहाँ सभी के कल्याण के लिए सोचने वाले व्यक्ति को सच्चे अर्थ में मनुष्य कहते है। जो व्यक्ति सिर्फ अपने मतलब के लिए जीते मरते है उसका ज़िंदगी जानवर के समान व्यर्थ मानते है।

"हुई न यों सुमृत्यु तो वृथा मरे, वृथा जिए,
मारा नहीं वही कि जो जिया न आपके लिए।
वही पशु- प्रवृति है कि आप आप ही चरे,
वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे। "

आज के समय में जहां संस्कृति, धर्म, जाति और लिंग से जुड़े मुद्दे समाज को तोड़ने के लिए बने हुए हैं, 'मनुष्यता' कविता एक संदेश देती है कि हमें इन सभी मुद्दों से परे निकलकर एकता और समानता की ओर बढ़ना चाहिए। आज देश में गरीबी, भ्रष्टाचार, असंतोष और न्याय की कमी जैसी समस्याएं बढ़ गयी हैं। कवि ने लोगों को अपने अधिकारों के लिए लड़ने और न्याय प्राप्त करने की जरूरत को उजागर किया है साथ ही मानवता के विभिन्न विवेकी स्वभाव का उल्लेख किया जो देश में मौजूद समस्याओं के निवारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं।

आज व्यक्ति व्यक्ति से निर्वासित हो रहे है, अपने आसपास के ज़िन्दगियों से बिना कोई मतलब से जी रहे है। "आदमी के भाव जगत की जो क्षति इस बाजार - तन्त्र, लाभ-लोभ की मानसिकता, सुखभोगवाद की हवस ने की है, वह हमारी आँखों के सामने है। इतना आत्मकेन्द्रित संवेदनशून्य और स्वार्थी आदमी कभी नहीं था, जितना वह आज है-अपने अलावा शेष सब कुछ से उदासीन और असम्पृक्त। "[5] इसप्रकार मनुष्य मनुष्य नहीं रह गया। जहाँ संवेदना हो वहाँ मानवता होती है, जिनमें मानवता का भाव हो उसे मनुष्य कहते है। अगर दूसरों के दुःख-दर्द को पहचानने का हृदय ही नहीं रहे तो मनुष्य मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं। इसलिए ही मनुष्यता कविता की

प्रासंगिक होना और पुनः मूल्यांकन होना ज़रूरी है।

"घटे न हेलमेल हाँ, बढ़े न भिन्नता कभी,

अतर्क एक पंथ के सतर्क पंथ हों सभी। "

प्रस्तुत पंक्ति में कवि कहता है कि मनुष्यों को यह ध्यान रखना चाहिए कि आपसी समझ न बिगड़े और भेद भाव न बड़े। बिना किसी तर्क वितर्क के सभी को एक साथ लेकर आगे बढ़ना चाहिए। भले ही कर्म के फलानुसार बाहरी तौर पर इंसान-इंसान में भेद होते है लेकिन अंतरी अंतर हर मानव एक दूसरे से जुडे हुए है, वेद इसका प्रमाण देते है। इसलिए भाई भाई की दुःख और संघर्ष में मदद नहीं की तो उसका ज़िंदगी व्यर्थ होता है। "गुप्त जी अतीत में जाकर भी अतीतोपजीवी कवि नहीं रहते, वे अतीत के भीतर से वर्तमान को दुधारू गाय की तरह दुह लेते हैं। अपनी चेतना में वे एक दम आधुनिक संवेदना के रचनाकार हैं।"[6] नव भौगोलिक परिस्थिति में अपने स्वार्थ और मतलब के कारण इंसान-इंसान से दूर हो रहा है, जाति- धर्म की स्पर्धा हो रही है, देश-देश की पारस्परिक वैर्य बढ़ रहा है। दूसरों के संस्कृति और विश्वासों का मर्यादा रखने के बगैर अपने विचारों को उनपर थोपने के प्रयास में रहते है। सदियों से अपने अस्तित्व और पहचान केलिए संघर्षरत विभिन्न जन जातियों को समाज के मुख्यधारा में लाने का अपने कर्त्तव्य से पीछे हटकर उन्हें ओर दबाने वाले विशेषाधिकार प्राप्त समाज में इस कविता एक अनुस्मारक है।

साहित्य आज भूमंडलीकरण' और 'उपभोक्तावादी' संस्कृति की क्रूरता, हिंसा, छल के विरुद्ध एक सार्थक हस्तक्षेप बनकर सामने खडा हुआ है। 'मनुष्यता' कविता दुनिया भर के लोगों को, उनकी मानवीय ज़िम्मेदारियों से जागरूक करने का प्रयास करती है। वह उन लोगों को अनुरोध करती है जो संघर्षों और असुरक्षा में हैं, उन्हें सहानुभूति और मदद करने के लिए उत्साहित करने है। वह सभी मानवों के लिए समान अधिकार और न्याय की मांग करता है। ■

संदर्भ

1. मानव मूल्य और साहित्य- धर्मवीर भारती, भूमिका, भारतीय ज्ञानपीठ, 2006 (प्र.सं 1999)

2.वाद विवाद संवाद- नामवर सिंह, पृ.71, राजकमल प्रकाशन, 2007 (प्र.सं 1989)

3. मैथिलीशरण गुप्त ग्रंथावली- संपा.कृष्णदत्त पालीवाल, पृ.7, साहित्य साधना, 2008

4. शताब्दी के ढलते वर्षों में - निर्मल वर्मा, पृ.150, वाणी प्रकाशन, 2020 (2017)

5. साहित्य इतिहास और संस्कृति - शिवकुमार मिश्र, पृ.61, वाणी प्रकाशन, 2009

6. मैथिलीशरण गुप्त प्रासंगिकता के अतःसूत्र - कृष्णदत्त पालीवाल, पृ.34, वाणी प्रकाशन, 2004 (1987)

जयप्रकाश कर्दम और एस.जोसफ की कविताओं में दलित चेतना

राधिका आर.
शोधार्थी, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय
शोध निदेशक
प्रो.एस.आर जयश्री,अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग,केरल विश्वविद्यालय

दलित चेतना दलितों के जीवन में सुधार लाने केलिए कार्यरत एक महान क्रान्ति है जिसमें कई महत्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं।वह दलित के प्रति किए जाने वाले सभी शोषण के प्रति उन्हें सचेत करने में उत्सुक है। सदियों से अपने अधिकारों से वंचित दलित को इसके प्रति जागृत करने की प्रवृत्ति दलित चेतना का महत्पूर्ण पहलू है।दलित चेतना के माध्यम से आज दलित अपने अधिकारों से परिचित एवं संरक्षित दिखाई देते हैं। अधिकारों से वंचित दलित को संविधान ने विशेष अधिकारों से समृद्ध बना दिया है।फिर भी वे समाज में असुरक्षित हैं।दलित चेतना इन विशेष कानूनन अधिकारों के प्रति उन्हें सचेत कराने के लिए सक्षम है। इस प्रकार विशेष आरक्षण के अधिकारी होकर भी दलित शोषण, अत्याचार, भ्रष्टाचार, बलात्कार आदि के शिकार हैं।समाज में विद्यमान दलित अशिक्षा के प्रति चेतना जगाने की कोशिश आज की जा रही है ।इन सभी विशेष अधिकारों और सुविधाओं के बाद भी समाज में दलित कमज़ोर हैं।जीवन के विविध स्तर पर हो रहे अन्याय, अत्याचार, अनीति, असमानता का विनाश करके समाज में दलित का अस्तित्व स्थापित करना दलित चेतना का लक्ष्य है, जो आज साहित्य व साहित्यकार के द्वारा किया जा रहा है।

दलित समाज की पीडाओं को अभिव्यक्त करने में हिंदी और मलयालम दलित कविताओं ने

महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। दलित को समाज के हर हिस्से से शोषण ही प्राप्त होता है। पुलिस और शासन भी दलित के खिलाफ हैं। सांप्रदायिकता और जाति-पाँति दोनों मिलकर देश में समत्व की स्थापना को रोक देती हैं। समाज अल्पसंख्यक और दलित को मनुष्य मानने पर संकोच प्रकट करता है। समाज में चलनेवाली परंपरागत चिंतनधारा को तोड़कर नया भारत बनाने का आह्वान कविता में है। आज साहित्य के माध्यम से समाज में सुधार लाने की कोशिश करते हुए दलित क्रान्ति का प्रचार-प्रसार किया जा रहा है।

'किले' कविता में जयप्रकाश कर्दम यह बताना चाहते हैं कि ठाकूर, ब्राह्मण और सेठ की सारी धन- दौलत के पीछे गरीब आम आदमी का परिश्रम है। फिर भी उसका शोषण किया जाता है। इसके विरुद्ध आवाज़ उठाते हुए कवि अपना विद्रोह प्रकट करते हैं। कविता के ज़रिए सामाजिक बदलाव लाना उनका लक्ष्य है। आगे वे इस शोषण को स्वीकार करना नहीं चाहते। दलितों की ओर होनेवाले अत्याचारों के खिलाफ आवाज़ उठाने की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं कि"जी करता है/ ध्वस्त कर दूँ इन किलों को/ चिंदी चिंदी कर दूँ इनका वजूद/कि शांत हो जाए/मेरी अंतर में धधकती हुई/ अपमान की आग और मिल जाए/ मेरे मन को शकून....................../यदि यही रहा मेरे/ दमन और शोषण का हाल तो/ आज नहीं तो कल/ हरकत में जरूर आएंगे/ मेरे हाथ।"[1]

भारत में आरक्षण आज भी चर्चा का विषय रहा है। दलित और दलितेतर वर्ग के बीच आरक्षण के नाम पर होनेवाली यह हलचल सदियों से चली आ रही है।

समता स्थापित करने केलिए संविधान में आरक्षण का नियम लागू किया गया था। समाज आज बहुत बदल चुका है। लेकिन समता पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हुई है। इसलिए आरक्षण को सुरक्षित बनाए रखने की लड़ाई में दलित अपनी शक्ति प्रदर्शित करते हुए दलितेतर समाज से सवाल उठाते हैं कि, "क्या केपिटेशन फीस/ यानि रिश्वत देकर एडमिशन लेना/ उचित है?/ क्या मंदिर की मोटी कमाई पर/ ब्राह्मणों का एकाधिकार उचित है?/ क्या गैर सरकारी संस्थाओं में/केवल सवर्णों का नियोजन उचित है?/ क्या यह सब आरक्षण नहीं है?/ फिर मेरा आरक्षण का विरोध क्यों? "[2]

ईश्वर के नाम पर दलितों का खूब शोषण हुआ है।नर सेवा को नारायण सेवा बताकर दूसरों ने उन्हें खूब लूटा। लेकिन आज दलित ने अपने प्रति होने वाले कुकर्मों को अच्छी तरह पहचान लिया है। प्रतिक्रिया करने में वे तत्पर रहे हैं। 'तुमने कहा' कविता में दलित की प्रतिक्रिया दर्शायी गयी है। पाठशाला में विद्यार्थियों को जातीय भेदभाव की दृष्टि से देखनेवाला अध्यापक गण आज भी है। 'वर्णवाद का पहाडा' कविता के माध्यम से अध्यापक के कुकर्मों का पर्दाफाश कवि करते हैं। अपनी ओर की जानेवाली असमानता की भावना के प्रति सवाल उठाने की क्षमता जयप्रकाश कर्दम दलित को दे रहे हैं। 'बेमानी है आज़ादी' कविता में जयप्रकाश कर्दम ने समाज में दलित को दी जानेवाली प्रतिष्ठा और सम्मान को निर्धारित करते हुए उनके साथ की जानेवाली असमानता और अन्याय का बयान किया है। वे इसके विरुद्ध आवाज़ उठाने की प्रेरणा भी देते हैं।"व्यर्थ है संसद और संविधान/ नहीं चाहिए उसे/ नीति और धर्म की शिक्षा/ नहीं चाहिए आद्यात्म का ज्ञान/ उसे चाहिए रोटी और सम्मान।"[3]

नारी शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठाने वाली कविता है 'अस्विकृति'। नारी को अत्याचार के प्रति सचेत रहने की चेतावनीकवि देते हैं। ईश्वर की सत्ता को तिरस्कृत करते हुए विश्वास तथा अंधविश्वास के नाम पर दलितों को दबाने वाली प्रवृत्ति से कवि कर्दम घृणा करते हैं।'तुम कौन' कविता में शत्रु के समान मुखौटा पहने आए व्यक्ति को चेतावनी देने का दृश्य हम देख सकते हैं। 'मेरे अधिकार कहाँ है' कविता में जयप्रकाशकर्दम ने दलित के हरेक अधिकार का बयान करते हुए उसे अपनाने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है। 'अम्बेदकर की संतान' कविता में जयप्रकाश कर्दम की प्रतिक्रया सशक्त रूप में बाहर निकली है। आगे वे दलित शोषण और अत्याचार को सहने केलिए तैयार नहीं। वे नए इतिहास लिखने में कार्यरत है। "तोड़कर अन्याय और शोषण की/ जंजीरों को/ रचेंगी नया इतिहास।"[4] आज भी जाति व्यवस्था सशक्त रूप में कायम रहने का मुख्या कारण 'धर्म ग्रन्थ' है। जब तक धर्म ग्रन्थ यहाँ रहेगा, तबतक जाति व्यवस्था भी रहेगी। इसलिए कवि कर्दम धर्म ग्रंथों को आग लगाने की बात कहते हैं।

'अप्प दीपों भवः' कविता के ज़रिए जयप्रकाशकर्दम ने दलितों में आत्मविश्वास और हौसला भराने का काम किया है। भूखे रहने पर भी स्वाभिमान न छोड़ने को वे कहते हैं।

दरिद्रता में भी लाचार मत बनने का सलाह देते हैं। न्यूटन का जैसा आत्मविश्वास कायम रखने की प्रेरणा कवि देते हैं। अब्राहाम लिंकन और अम्बेदकर से प्रेरणा पाने का उपदेश भी वे देते हैं।वे आदेश देते हैं कि, छोटे लक्ष्य के साथ हम कभी ऊँचाई तक नहीं पहुँच सकते, इसके लिए मैदान से पहले लड़ाई, मस्तिष्क में लड़ना चाहिए। वे सलाह देते हैं कि- "आग बढना है यदि /अपना लक्ष्य को बड़ा बनाओ/ तमसो मा ज्योतिर्गमय की याचना छोड़/ अप्प दीपो भव को अपनाओ।"5

क्रान्ति का सन्देश फैलाने की बात करनेवाली कविता है 'सन्देश'। 'दरिया' कविता मेंदलितों के मन में शोषण के प्रति विद्रोह करने और लक्ष्य प्राप्तितक पहुँचने का आत्मविश्वास पैदा किया जाता है।

कवि अकेला होने से परवाह नहीं करते। वे सदा लड़ाई में लीन रहते हैं। 'क्रान्ति का बिगुल बजा दो' कविता के माध्यम से क्रान्ति फैलाने का आह्वान दे रहे हैं। "धरती-आसमान को हिला दो/ अन्याय की इस दुनिया में/ आग लगा दो/ क्रांति का बिगुल बजा दो।"6

त्रासदी में डूबी हुई ज़िंदगी को सरलता से अभिव्यक्त करने की क्षमता एस.जोसफ की काव्य कुशलता है। विद्रोही भावना से ओतप्रोत आपकी कविताएँ मलयालम दलित काव्य को एक अलग चेहरा प्रदान करती हैं। व्यंग और उलटबासी शैली में आपने कभी-कभी जोरदार समस्याओं को बड़ी गंभीरता से कविताओं में स्थान दिया है। ज़िंदगी के अभावों में रोने के अतिरिक्त अभावों की पूर्ति केलिए कठोर परिश्रम करने को आपकी कविताएँ समाज को आह्वान कर रही हैं। जोसफजी की कविताओं में प्रेम और मासूमियत के बीच एक सूक्ष्म आयाम विद्यमान रहता हैण यह निश्चित रूप से कवि के मन में दलित जीवन के परिवेश की याद दिलाता है। शोषण का शिकार होकर तिरस्कृत होनेवाला एक बडा समाज आज हमारे सामने है। देश के भौतिक विकास के इस सिलसिले में दलित का जीवन जीना मुश्किल ही है। जोसेफ की कविता इन लोगों केलिए है – "लेकिन बहिष्कृत शहरी / ग्रामीण लोग कहाँ जाएँगे /"7 (एन्नाल पुरमतल्लप्पेट्टा नगरवासिकलुम / ग्रामवासिकलुमाया मनुष्यर एनगोट्टू पोकुम ?")

देश का भौतिक विकास मानव जीवन पर गहरा दुष्प्रभाव डाल रहा है। जोसफ सदा दलित जीवन की दुरवस्था पर अपना प्रतिरोध प्रकट कर रहे हैं। "धूल भारी घर के आँगन पर ? खड़े रहनेवाले इंसान का बात मुश्किल है"8 (मणतिट्टियिल पोडी मूडीया वीडिन्टे / मणतिट्टियिल निन्ना मानुष्यन्टे कार्यम प्रयासमाकुम ") इस प्रकार केरलीय दलित समाज की विभिन्न समस्याओं को अपनी कविताओं के माध्यम से प्रस्तुत करते

हुए एस जोसफ दलित समाज पर विद्रोही भावना जगाने की कोशिश करते रहते हैं।

संक्षेप में कहें तो, डॉ.जयप्रकाश कर्दम और एस.जोसफ कविता के माध्यम से अपनी कविता में दलित क्रान्ति का प्रचार-प्रसार कर रहे हैं। जयप्रकाशकर्दम की अधिकांश कविताओं में क्रान्ति का स्वर ऊँचा रहा है। उनका लक्ष्य भी यही रहा है कि कविता के माध्यम से क्रान्ति का सन्देश भारत के कोने-कोने तक पहुँच दिया जा सकें। फलस्वरूप जनता चेतित हो जाएगी और अपने अधिकारों से अवगत होकर सामाजिक समता केलिए आगे बढ़ने को तैयार हो जाएगी। एस.जोसफ की कविता में क्रान्ति का सन्देश अवश्य मिलता है, लेकिन स्पष्ट रूप से विद्यमान नहीं है। अतः कहा जा सकता है कि जयप्रकाश कर्दम और एस.जोसफ दलित चेतना के माध्यम से जो कुछ कर रहे हैं, वे साहित्य सर्जना से परे हैं। दोनों कवि, समाज सुधारक के रूप में हमारे सामने प्रत्यक्ष होते हैं। ■

संदर्भ

1. किले – गूँगा नहीं था मैं – डॉ.जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं.16

2. आरक्षण – वही - पृ.सं. 18

3. बेमानी है आज़ादी – वही - पृ.सं.31

4. अम्बेदकर की संतान – वही - पृ.सं.62

5. अप्पा दीपो भवः – तिनका तिनका आग – डॉ.जयप्रकाश कर्दम - पृ.सं.10

6. क्रान्ति का बिगुल बजा दो – वही - पृ.सं. 17

7. चींटी दौड़नेवाली एक पत्ता (उरुम्पु ओड़ीनाडकुन्ना ओरिला)- महोख का पुकार खींचता है (उप्पान्टे कूवल वरकुन्नु)- एस. जोसफ- पृ.सं : 45

8. आसानें मुश्किलें (एलुप्पङल् प्रयासङल्)- चाँद के साथ (चंद्रनोडोप्पम)- एस.जोसफ – पृ.सं : 42

'स्त्रियाँ' में स्त्री स्वर

डॉ. आर्या वी.एस

पोस्ट डॉक्टोरल फेलो, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

शोध निदेशक

प्रो.एस.आर जयश्री,अध्यक्ष एवं आचार्य, हिंदी विभाग,केरल विश्वविद्यालय

समकालीन हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अनामिका एक संवेदनशील एवं सामाजिक यथार्थ से जुड़ी हुई रचनाकार हैं। अनामिका ने दुनिया भर के स्त्री जीवन एवं स्त्री आंदोलनों के गहन अध्ययन के साथ–साथ भारतीय परिप्रेक्ष्य में इनकी व्याख्या कर स्त्रीवाद को नया रूप दिया है। अनामिका जीवन के सहज प्रसंगों से भाव ग्रहण करती हैं। अनामिका ने अपने जीवन में जो देखा, भोगा उसे अपनी रचनाओं में समेटा है। अनामिका की सोच ने कलम से स्त्री जीवन को एक अलग मुकाम दिया है।

'स्त्रियाँ' कविता में अनामिका स्त्री के वजूद को तलाशती है। इस कविता में, समाज किस प्रकार की चेतना को परखने का प्रयास करता है, इसका चित्रण भी है। समाज किस माध्यम से स्त्री को पढ़ते, देखते और सुनते हैं? इतना ही नहीं स्त्री की व्यथा कथा भी लिखती है। अनामिका ने 'स्त्रियाँ' कविता में अपने समाज के, आसपास की चीज़ों से स्त्री की तुलना करने का प्रयास किया है। अनामिका के स्त्री जीवन चित्रण में नज़र रखकर मंजू रूस्तगी ने लिखा है:- "भारतीय स्त्री के संदर्भ में बात करें तो वह अपने भावों, विचारों, आकांक्षाओं, तर्कों से नहीं सोचती। पुरुष प्रधान समाज में परवरिश होने के कारण वह हर क्षेत्र में पुरुष से ही पहल करने की अपेक्षा रखती है। इच्छा, चाह और अपने

अधिकारों के प्रति सजग होने के बावजूद भी वह समझौतावादी दृष्टिकोण अपनाकर अस्तित्वहीन जीवन जीने को अभिशप्त है। अनामिका इस स्थिती को यूँ कहती है:-

"मैं कैसरोल की अंतिम रोटी हूँ।

कैसरोल में ही बंद रही हूँ अब तक।"[1]

पितृसत्तात्मक भारतीय समाज में स्त्री को माननेवाले या स्त्री मन को समझनेवाले कोई नहीं हैं। उन्हें सच्चे मन से पढ़ने की कोशिश नहीं होती है। स्त्री, समाज में अपने रूप को न व्यक्त कर सकती है, न स्पष्ट। स्त्री मन की तुलना अनामिका ने बच्चों की फटी कॉपियों से की है। केवल गरम चनाजोर के लिफाफे बनाने के पहले बच्चों की फटी क़ॉपियों से उसके वजूद को परखा जाता है। स्त्री के वजूद को समाज ने सिर्फ इतना ही स्थान दिया है।

"पढ गया हमको

जैसे, पढा जाता है कागज़

बच्चों की फटी कापियों का

चना जोर गरम के लिफाफे के बनने से पहले!"[2]

वास्तव में उन फटी कॉपियों में क्या लिखा गया है? यह जानने की खास इच्छा हमारे मन में नहीं होती। इसी रूप में स्त्री मन को जानने का सटीक प्रयत्न हमने नहीं किया है। सुबह सुनने वाले अलाम की तरह है स्त्री जीवन। अलाम बजने से नींद में विघ्न होता है। जैसे कि स्त्री भी अलाम जैसे गैर ज़रूरी चीजों की तरह देखी और समझी जाती है। पहले ही कह चुके हैं कि अनामिका अपने आसपास की चीजों में स्त्री जीवन ढूँढ़ती है। उन्होंने उड़ते बस में सुनने वाले सस्ते कैसेटों के गाने से स्त्री मन की तुलना की है। वे सस्ते गाने सुन कर भूल जाते हैं या उस पर लोग ज्यादा ध्यान नहीं देते हैं। इसी तरह नारी को भी सुना जाता है। बहुत लंबी सफर को ये फिल्मी गीत सुहाना बनातेहैं, नारी भी हमारे जीवन को सुहाना बनाती हैं, लेकिन उनको बारीकी से सुनने या समझने का प्रयास उस बस के यात्री नहीं करते हैं। इसी तरह नारी, जीवन में कितने महत्वपूर्ण काम किया करती है, लेकिन उसको सुनने या समझने के लिए कोई नहीं है।

अनामिका की कविता स्त्री विमर्श को नया खेत – खलिहान देती है। स्त्री के दुख को सुनती है, हमदर्दी भी जताती है, लेकिन लोग उसके दुखको अपना नहीं समझते हैं। स्त्री, समाज का अभिन्न अंग होते हुए भी उसका दुख हमें किसी दूर के रिश्तेदारों के दुख की तरह है।

"एक दिन हमने कहा-
हम भी इंसान हैं
हमें कायदे से पढो एक –
एक अक्षरजैसे पड़ा होगा बी ए
के बाद नौकरी का पहला
विज्ञापन!"[3]

अनामिका यहाँ स्त्रियों की तरफ से अपनी आवाज़ उठाती हैं। वेकहती हैं कि स्त्रियों को भी सुनो। जैसे नौकरी के पहले विज्ञापन की तरह एक - एक अक्षर, शब्द ध्यान से पढो और समझो।स्त्री को समझने के लिए सुघड दृष्टि से उन्हें पढने को कहती हैं। हमें स्त्री को उत्सुकता और कौतुहल से देखना है जैसे ठिठुरते ठंड में दूर जलती आग की तरह। अनामिका कहती हैं हम स्त्री को अनहम नाथ की तरह ध्यानपुर्व सुनो। उसी नाथ की तरह स्त्री की मन को सुनने का प्रयास करें। नई भाषा को जैसे हम बेहद ध्यान से पढ़ते हैं उसी तरह स्त्री को सीखो। ठीक से सुनने या समझने के बिना स्त्री पर दुश्चरित्र महिला की संज्ञा देना नहीं चाहिए।

"दुश्चरित्र महिलाएं, दुश्चरित्र महिलाएं
किन्हीं सरपस्तों के दम पर फूली - फैली
अगरधत्त जंगल लताएँ"[4]

पुरुष सत्तात्मक समाज में स्त्रियाँ अपना हक माँगती हैं। अपनी बातों पर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास करती हैं। तब हमने स्त्री को दुश्चरित्र संज्ञा दिया गया है। क्या अपना हक माँगना कोई अपराध है? समाज स्त्री को सदैव पुरुष के आश्रय में रहने के लिए विवश कराता है। जब उसने अपने हक का माँग किया तो उसके चरित्र पर ऊँगली उड़ाते है।

"शगल हैं ये कहानियाँ और
कविताएँ...........।
फिर उन्होंने थोड़े ही लिखी
है(कनखियाँ, इशारे, फिर कनखी) बाकी
कहानी बस कनखी है।"[5]

स्त्रीवादी लेखन कार्य सिर्फ आज का नहीं है। पहले से ही है।लेकिन समकालीन समय में यह अपने मोड़ पर पहुँचा है। स्त्रियों का लिखना कोई पाप नहीं है। लिखने वालीस्त्रियाँ दुश्चरित्र वाली भी नहीं है।वे नारियाँ ताकतवर हैं, अपने अस्तित्व को समाज में स्थापित करने में सफल हुई हैं। इस कविता के अंत में अनामिका लिखती हैं;

"हे परमपिताओं, परमपुरुषों बख्शो,
बख्शो, अब हमें बख्शो!"[6]

इन शब्दों में बहुत कुछ निहित है। इन शब्दों में स्त्रियों के अंतरमन का भरपूर आक्रोश है।सिर्फ परमपिता या परम पुरुषों से नहीं पूरे समाज से कहती

हैं। वे अपना रास्ता खोजने के लिए तैयार हो रही हैं। उन्हें अपने आप छोड़ दो। स्त्रियाँ अपनी आपकी बनाई इस व्यवस्था से मुक्ति चाहती हैं। सारी वास्तविकता को जानकर, आगे रुकनेवाले नहीं हैं, चाहे उन पर कोई भी आरोप न लगायें।

अनामिका की 'स्त्रियाँ' कविता में स्त्री के मानसिक संघर्ष को चित्रित किया गया है। स्त्री को सिर्फ शारीरिक नहीं, मानसिक पीड़ा को भी सहना पड़ता है। अनामिका ने इस कविता में इसी वेदना को व्यक्त किया है।साथ ही साथ स्त्री जीवन के भीतर के भयावह सच को बहुत सहज ढंग से कविता में चित्रित किया गया है। नयी तस्वीर के साथ नारी मन को दर्शाया गया है। स्त्री का आग्रहभर स्वर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कियागया है। कविता में स्त्री की उपस्थिति के बारे में चर्चा करना कोई नहीं बात नहीं है। आनेवाले समय में भी चर्चाएँ होती रहेंगी। ■

संदर्भ सूची

1. अनामिका का काव्य:- आधुनिक स्त्री विमर्श – मंजू रुस्तगीपृ. सं – 68-69
2. खुरदुरी हथेलियाँ -अनामिका पृ. सं – 13
3. खुरदुरी हथेलियाँ -अनामिका पृ. सं – 13
4. खुरदुरी हथेलियाँ -अनामिका पृ. सं – 13-14
5. खुरदुरी हथेलियाँ -अनामिका पृ. सं – 14
6. खुरदुरी हथेलियाँ -अनामिका पृ. सं – 14

सहायक ग्रंथ

1. समकालीन हिंदी साहित्य और नव- विमर्श– सं.डॉ.लीना बी.एल – अद्वैत प्रकाशन, दिल्ली
2. भारतीय समाज में प्रतिरोध की परंपरा – मैंनेजर पांडेय – वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
3. नयी साहित्यिक सांस्कृतिक सिद्धांतिकियाँ– सुधीश पचौरी – वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

विनोद शुक्ल की कविताओं में वैश्वीकरण

आर्षाराज.आर. एल
शोध छात्रा, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय
शोध निदेशक
डॉ. इंदू के. वी, सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, केरल विश्वविद्यालय

समकालीन कवि अपने वर्तमान समाज के प्रति हमेशा सजग रहे हैं। वे सामाजिक विसंगतियों को देखकर चिंतित हो जाते हैं और अपनी कविता द्वारा इसके खिलाफ आवाज़ उठाते हैं।प्रस्तुत लेख में वैश्वीकरण के सामान्य अध्ययन के साथ विनोद कुमार शुक्ल की कविताओं में चित्रित वैश्वीकरण के स्वरूप पर भी चर्चा की जाएगी।

वैश्वीकरण (globalization) दो शब्दों से मिलकर बना है विश्व+एकीकरण। इन दो शब्दों में विश्व से तात्पर्य है पृथ्वी पर मौजूद विभिन्न देश और एकीकरण से तात्पर्य है आपसी सहयोग। यानी एक छत के नीचे आकर एक दूसरे की मदद करना। दोनों मिलाकर कहा जा सकता है कि "वैश्वीकरण का शाब्दिक अर्थ स्थानीय, क्षेत्रीय वस्तुओं या घटनाओं के विश्व स्तर पर रूपांतरण की प्रक्रिया है। विश्व के सभी बाजारों का एक साथ होकर कार्य करने की प्रक्रिया को भी वैश्वीकरण कह सकते हैं। यह प्रक्रिया आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक और राजनीतिक ताकतों का एक संयोजक है।"[1] वैश्वीकरण की प्रक्रिया में निजीकरण, महानगरीकरण, आधुनिकीकरण, प्रौद्योगिकीकरण आदि चल रहे हैं। वैश्वीकरण या भूमंडलीकरण उपनिवेशवाद व साम्राज्यवाद के लिए प्रयुक्त अच्छे शब्द हैं। इसको नव उपनिवेशवाद या उत्तर उपनिवेशवाद भी कहते हैं। ब्रिटीश उपनिवेशवाद के रूप को वैश्वीकरण का पहला चरण माना जाता है। भारत में वैश्वीकरण की शुरुआत सन 1991 के दौर में हुई थी।

देश की बुरी अर्थव्यवस्था को देखते हुए उस दौरान मनमोहन सिंह ने LPG के नाम से इसे अपनाया था। यह Liberalisation, Privatisation और Globalization के नाम से जाना जाता है।

वैश्वीकरण से संसार के सारे देश आज मिलजुलकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर रहे हैं। हम सब अपनी-अपनी जिंदगी में वैश्वीकरण के कारण ही अपनी सारी जरूरतों की पूर्ति कर सकते हैं। हम दुनिया को एक बाज़ार के रूप में देखते हैं जिसमें हर कोई अपनी चीज बेच और खरीद सकता है। कारोबार से जिन देशों के पास जो चीज ज़्यादा होती है, इसको दूसरे देशों को निर्यात कर देते हैं और वहाँ जिन चीजों की कमी होती है, उसको दूसरे देशों से आयात कर लेते हैं। इस प्रकार वैश्वीकरण के फायदे और नुकसान भी होते है। उत्पादकता में वृद्धि, नवीन तकनीकों का विकास, आर्थिक विकास की दर में वृद्धि, निर्यात में तेज़ वृद्धि, विदेशी मुद्रा कोष में वृद्धि, नागरिकों के जीवन स्तर में सुधार, पारस्परिक निर्भरता, विकसित देशों द्वारा नियंत्रण, विश्व बंधुत्व की भावना का विकास, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग आदि वैश्वीकरण के गुण होते हैं।

वैश्वीकरण के दुष्परिणाम भी होते हैं। सार्वजनिक क्षेत्रों की संख्या में कमी, घरेलू कंपनियों का अधिग्रहण, श्रमिकों के रोज़गार पर प्रतिकूल प्रभाव, केवल बड़े उद्योगपतियों व पूंजीपतियों को लाभ, खाद्य फसलों के उत्पादन पर कम ध्यान, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं का दबाव, देश की संस्कृति को खतरा, आर्थिक असंतुलन की स्थिति, राष्ट्रीय प्रेम की भावना को आहत आदि वैश्वीकरण के दोष होते हैं।

समकालीन हिंदी कवियों ने अपनी कविता द्वारा भूमंडलीकरण के परिणाम स्वरूप उत्पन्न सामाजिक, पारिवारिक एवं सांस्कृतिक विसंगतियों केविरुद्ध आवाज उठाई है।

समकालीन हिंदी साहित्य के प्रमुख कवि एवं उपन्यासकार हैं विनोद कुमार शुक्ल। उन्होंने प्राध्यापन को रोज़गारी के रूप में चुनकर पूरा ध्यान साहित्य सृजन में लगाया। आपने भी अपनी लेखनी के जरिए वैश्वीकरण की विसंगतियों पर चर्चा की है। वर्तमान युग में वैश्वीकरण और बाज़ारवाद ने मानवीय संवेदना और मानव की सामाजिकता का अधिक विनाश किया है। अतः समकालीन कवि अपनी वाणी द्वारा मनुष्यता और सामाजिकता को

बचाकर कायम रखने का प्रयास कर रहे हैं। एक मनुष्य द्वारा दूसरे मनुष्य को जानना और उसकी हताशा को पहचानना सामान्यत: सामाजिकता से उभरने वाला अर्थ है। विनोद कुमार शुक्ल आदमी को जानना जरूरी नहीं समझते, बल्कि उसकी हताशा को और उसके साथ चलने को बहुत ज़्यादा जरूरी समझते हैं। इस पर उन्होंने अपनी अनुभूतियों को इस प्रकार व्यक्त किया है-

"हताशा से एक व्यक्ति बैठ गया था
व्यक्ति को मैं नहीं जानता
हताशा को मैं जानता था
इसलिए मैं उस व्यक्ति के पास गया
मैं ने हाथ बढ़ाया
मेरा हाथ पकड़ कर वह खड़ा हुआ
मुझे वह नहीं जानता था
मेरे हाथ बढ़ाने को जानता था
हम दोनों साथ चले
दोनों एक दूसरे को नहीं जानते थे
साथ चलने को जानते थे।"[2]

वर्तमान समाज सदी के सबसे दर्दनाक और खौफनाक दौर से गुज़र रहा है। हमारी भारतीय संस्कृति में 'वसुधैवकुटुंबकम्' जैसा संदेश विद्यमान है, पर आज इसकी स्थिति बदल गई है। सब वैश्वीकरण के आवरण में फंसे हुए हैं और हर व्यक्ति की मानसिकता में भी बदलाव आया है। लोग विदेशी संस्कार की ओर जा रहे हैं। समाज में हो या साहित्य में हो, वर्तमान समय में समकालीनता का अर्थ स्वार्थ, पूंजी, बाज़ार, शोषण, अमानवीकरण के विरुद्ध जागरण आदि है। आज का समाज पूंजीवादी और शोषक वर्गों के हाथों में है। वे लोग अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए अर्थात् मुनाफा कमाने के लिए ही बाज़ारवाद के जरिए लोगों को अपना शिकार बनाते रहते हैं। कवि अपने शब्दों से पाठकों को चेतावनी देते हैं कि आने वाली पीढ़ी को इस वैश्वीकरण के नकारात्मक हाथों से बचाना हम सभी की ज़िम्मेदारी है। इस उम्मीद को व्यक्त करते हुए कवि इशारा करते हैं कि

"दुनिया जगत
जगत कुए का
जिस पर जाने कैसे
चढा एक नन्हा बच्चा
आवाज नहीं दी मैंने उसको
चौंककर कुएँ के अंदर गिर जाता तो!!
चुप चाप धीरे-धीरे चला
संभलकर उठाया मैंने गोद में उसको"[3]

वैश्वीकरण के फलस्वरूप आदिवासियों का शोषण भी हो रहा है। आदिवासी लोगों

ो रोजमर्रा जीवन में विविध प्रश्नों, ामस्याओं तथा अभावोंका सामना ारना पड़ता है। विनोद कुमार शुक्ल ने ापनी कविताओं में इन सभी का यथार्थ चित्रण किया है। आदिवासी लोग खुद नग्न रहकर कोसाफलों का इकट्ठा करते हैं और इसको बाज़ार ले जाकर बेचते हैं और उसके बदले में अपने जीवन की रोज़मर्रे की चीजों को खरीदते हैं। उन लोगों की आर्थिक, शारीरिक एवं सामाजिक संवेदनाओं को यहाँ कवि व्यक्त करते हैं।

"कोसाफल लेकर जंगल के घने से
आदिवासी अपनी नग्नता में
शाखाओं, पत्तियों और हवा का
घना स्पर्श पाते हुए
लौटने लगते हैं बाज़ार की तरफ।
अनेक कालों के बाद
हमारी इस सभ्यता के बाज़ार से
कोसाफल के बदले नमक पा लेने
या आनेवाली किसी सभ्यता के बाज़ार से
कोई वस्त्र कपड़ा।"4

विनोद कुमार शुक्ल ने व्यावसायिकता का शिकार हुई एक आदिवासी लड़की का वर्णन किया है। इस लड़की को जंगल के बाघ का खौफ नहींलगता, मगर उसको बाज़ार जाने से डर लगता है। कवि ने अपनी संवेदना को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है कि

"एक अकेली आदिवासी लड़की को
घने जंगल जाते हुए डर नहीं लगता
बाघ -शेर से डर नहीं लगता
पर महुवा लेकर गीदम के बाज़ार जाने
से डर लगता है।"5

विनोद कुमार शुक्ल के काव्य की खासियत यह है कि उनको अपनी चिंता नहीं है, अपितु पूरे विश्व को बचाने की चिंता है। इस खराबी दुनिया की कुप्रथाओं को अनदेखा करने की मानसिकता कवि को नहीं है। आप कहते हैं कि

"मुझे बचाना है
एक-एक कर
अपनी प्यारी दुनिया को
बुरे लोगों की नजर से "6

जंगली शोषण पर विचार करते हुए 'रातों में भी जंगल' नामक कविता में कवि कहते हैं कि जंगल का शोषण दो प्रकार से होता है - पहला सरकार की अनुमति के साथ, दूसरा चोरी चुपके से सरकार बड़े-बड़े लकड़ी की व्यापारियों को जंगल के पेड़ बेच देती है और वे रात के अंधेरे में भी जंगल से लकड़ी की चोरी

करते हैं। अतः कवि इशारा करते हैं कि आजकल जंगलों में रातके समय किसी जानवरों की आहट नहीं सुनाई देती है, बल्कि आदमी की आहट होती है। अर्थात् मानव के हस्तक्षेप के कारण जंगल के जानवर बेघर हुए हैं या आदमी के शिकार बने हैं। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं कि

" रात में भी जंगल में
जानवरों की आहट नहीं होती
आदमी की आहट होती है
जंगल से जानवर चले गए।"[7]

वैश्वीकरण की वजह से ही समाज में आर्थिक असमानताएँ पैदा होती हैं। इससे गरीब लोग और ज़्यादा गरीब बनते हैं और अमीर लोग और ज़्यादा अमीर बनते हैं। यह भूमंडलीकरण की एक बड़ी कमी है। विनोदकुमार शुक्ल ने 'रायपुर बिलासपुर संभाग' कविता में गरीब देहाती लोगों की दुखपूर्ण जिंदगी का सच्चा चित्रण किया है। इन आम लोगों का जीवन विभिन्न समस्याओं से भरा हुआ है। रेलगाडी के डिब्बे में बैठते यह भोले गरीब देहाती लोग वहाँ पर एक दूसरे से चिपककर बैठ जाते हैं। इनके चेहरे उदास, निस्पृह तथा निष्कपट हैं। उन पर कोई केले का छिलका या कूड़ा कचरा भी फेंकते हैं तो वे वहीं पर सरक कर बैठ जाते हैं और कूड़ा कचरा फेंकने को अधिक जगह देते हैं। सच में उन्हें जीने के अधिकार से वंचित किया जाता है। कवि ने इस दर्द का चित्रण ऐसे किया है -

"निस्पृह उदास निष्कपट इतने
कि गिर जाएगा उन पर केले का छिलका
या फल्ली का कचरा
तब और सरक जाएंगे
वहीं कहीं
जैसे जगह दे रहे हों
कचरा फेंकने की अपने ही बीच।"[8]

विनोदकुमार शुक्ल ने अपनी कविताओं के ज़रिए पूंजीवादी वर्गों के खिलाफ उंगली उठाते हुए उनके प्रति अपनी घृणा भी व्यक्त की है। साथ ही शोषित वर्गों की पीड़ा का यथार्थ चित्रण भी किया है। आपने इस प्रकार आवाज़ उठाई है–

" दोस्त! तू भी मार
मार
उसको मार
अपना माल बरामद कर
दृश्य में ला
उपस्थित कर।"[9]

निष्कर्ष

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण ने संसार के प्राकृतिक स्वरूप को बदल दिया है।हर व्यक्ति की मानसिकता को भी बदल दिया है।वैश्वीकरण के गुणों से ज़्यादा, इसका दोष दिखाई देता है। आपके काव्य संग्रहों की सभी कविताएँ हमारे दैनिक जीवन से संबंधित हैं।आप आम जनता की पीड़ा को अपनाते हुए कविता लिखने वाले हैं। कवि हमें याद दिलाते हैं कि वैश्वीकरण से खोया हुआ आर्थिक असंतुलन, पारिवारिक असंतुलन, सामाजि असंतुलन, पारिस्थितिक असंतुल आदि को वापस लाने का प्रयास कर संसार का संतुलन कायम रखना है विनोदकुमार शुक्ल अपनी पूरी संवेदना को अपनी कविताओं के माध्यम से पाठकों तक पहुँचाने में सक्षम बने हैं। तजुर्बों को हमारे सामने छोड़कर अदृश्य हो जाने वाली अपनी सराहनीय भाषा से उनकी कविताएँ जिंदा रहेगी। ■

संदर्भ एवं सहायक ग्रंथ सूची

1.शैला एल .क्रोचर, वैश्वीकरण और संबंध एक बदलती हुई दुनिया की पहचान की राजनीति रोमैन और लिटिलफील्ड २००४ पृ. सं१०
2.विनोद कुमार शुक्ल, ' अतिरिक्त नहीं ', पृ. सं- 13
3.विनोद कुमार शुक्ल, प्रतिनिधि कविताएं, पृ. सं78
4.विनोद कुमार शुक्ल, सब कुछ होना बचा रहेगा, पृ. सं-19, 20
5 .विनोद कुमार शुक्ल, सब कुछ होना है बचा रहेगा, पृ. सं- 22
6 .विनोद कुमार शुक्ल, सब कुछ होना है बचा रहेगा, पृ. सं- 48
7.विनोद कुमार शुक्ल, कभी के बाद अभी, पृ. सं- 247
8.विनोद कुमार शुक्ल, कविता से लंबी कविता, पृ. सं-13
9.विनोद कुमार शुक्ल, कविता से लंबी कविता, पृ. सं- 26, 27
10.विनोद कुमार शुक्ल का रचना संसार, डॉ. सम्मुख नागनाथ मुच्छटे
11.समकालीन हिंदी साहित्य वैश्वीकरण के संदर्भ में, डॉ. बाबू जोसफ

केदारनाथ सिंह की कविताओं में नारी संवेदना

श्रीवर्षा मोहन

शोधार्थी, एम जी कॉलेज

शोध निदेशक

डॉ.जयकुमारी के, हिंदी विभाग, महात्मा गाँधी कॉलेज, केरल विश्वविद्यालय

शोधसार :- इक्कीसवीं सदी के इस पार तक आते आते बहुत कुछ बदल गया है। वैश्वीकरण के दौर में अधिक योग्य, शिक्षित, सक्षम लोगों का फायदा तो अवश्य हुआ है लेकिन जब बात महिलाओं पर आती हैं तो सबसे ज़्यादा मुश्किल तो इन्हीं का हुआ है। विदेशी कंपनियों की मनमानी शर्तें, कम वेतन, नौकरियों में असुरक्षा और कानूनी असमर्थता आदि का महिलाओं पर घातक प्रभाव पड़ा है। वैश्वीकरण जहां विकासशील देशों के विकास को सुनिश्चित करता है, यह समाज की गरीब महिलाओं को अधिक उत्पीड़ित करने का प्रयास करता है। साथ ही वे भेदभाव का शिकार हो रही हैं। एक ही तरह के काम में पुरुष तथा महिलाओं के साथ भेदभाव किया जाता है।केदारनाथ सिंह की कविताओं में नारी का उत्पीड़ित रूप हम देख सकते हैं।

बीज शब्द : वैश्वीकरण,कामकाजी नारी, सामाजिक एवं मानसिक बदलाव, नारी की स्थिति

आलेख: इक्कीसवीं सदी के इस पार तक आते आते बहुत कुछ बदल गए हैं। उत्पीड़ित, शोषित, परित्यक्ता नारी से हटकर आज वह कामकाजी और अपने पैरों पर खड़ी हो गई हैं। आज की औरतें अपनी मुश्किलों में भी बिना थके अपने पैरों पर खड़ी होने का प्रयास करती हैं। केदारनाथ सिंह की चर्चित कविता है 'बाघ' जिसमें कवि कहते हैं -

"मैं एक स्त्री को जानता हूं
जो एक छोटे से शहर में रहती
उसके पास ढेरों कहानियां थीं
बाघ के बारे में और नदियों के बारे में
और उन बहुत शहरों के बारे में
जिनके नाम किताबों में कहीं नहीं मिलते
उसका विश्वास था कि
बाघ एक जादू है
और इतना विकट
कि अंधेरे मेंनाम लो
तो हो जाएगा प्रकट "[1]

कवि यहाँ किस स्त्री की बात कर रहे हैं और यह बाघ किसका प्रतीक है यह जानना ज़रूरी है। क्या यह बाघ सत्ता का प्रतीक है? या किसी विकट सच्चाई का,जिससे हम और हमारी पीढ़ी रू-ब-रू हो रही हैं। यहाँ बाघ एक भय का प्रतीक है। बाघ मनुष्य का इतना निकट है कि यह सबका विनाश कर सकता है। इस कविता में कवि एक विशेष प्रकार की मांग करते हैं और वह है स्त्री विमर्श और स्त्री अस्मिता।

"हवा को बहने दो
और उस स्त्री को भूल जाओ
जिसे तुम प्यार करते हो
इसमें तुम्हें जंगली पत्तों की खुशबू
और एक जानवर के रोओम की
गरमाहट मिलेगी
तुम्हें एक मज़बूत पत्थर मिलेगा
जिस पर तुम बैठ सकते हो"[2]

यहाँ कवि कहते हैं कि उसे भूल जाओ। इसलिए जंगली पत्तों और जंगली पशुओं से उसकी तुलना की गई है। यहाँ स्वत: पाठकों के मन में यह प्रश्न उठेगा कि क्या स्त्री से प्रेम करना उतना निकृष्ट है कि उसकी तुलना जंगली पत्तों से की गई है? क्या कवि का दृष्टिकोण भी स्त्री विरोधी नहीं है? यदि ऐसा हो तो सिमोन का कथन उचित है कि " स्त्री पुरुष प्रधान समाज की एक कृति है। वह अपनी सत्ता को बनाए रखने केलिए स्त्री को जन्म से ही उनके नियमों के ढाँचे में ढालता चलता गया है।"[3]

केदारनाथ सिंह की कविताओं में नारी के विविध रूप देखने को मिलते हैं। कभी प्रेयसी के रूप में तो, कभी पत्नी के रूप में। यहाँ तक कि प्रकृति, विश्व, नदी और श्रमिक नारी के रूप में भी वह आती है। सच तो यह है कि समाज ने अब भी स्त्री को समझा नहीं है। अगर ऐसा नहीं होता तो केदारनाथ सिंह अपनी कविता में स्त्री को एक अजूबा की संज्ञा देने से अवश्य कतराते। 'अन्या से अनन्या ' नामक आत्मकथा में आइलिन,

प्रभा खेतान से यही प्रश्न करती है कि स्त्री को मनुष्य ने अब भी समझा कहां है।स्त्री की अस्मिता आज भी खतरे में है और तब तक रहेगी जब तक स्त्री को मनुष्य नहीं समझा जाएगा।

स्त्री के संघर्षपूर्ण, श्रमिक और कामकाजी रूप को भी उन्होंने अपनी कविताओं में उजागर किया है।उनकी स्त्री केंद्रित एक और कविता है'नमक'। यहाँ पर भी वे स्त्री अस्मिता की मांग करतेहैं। यहाँ स्त्री की तुलना नमक से की गई है।

"एक शाम शहर से गुजरते हुए
नमक ने सोचा
मैं क्यूं हूं नामक
और जब कुछ नहीं सूझा
तो वह चुपके से घुस गया एक घरमें
घर सुंदर था
जैसा कि आमतौर पर होता है
अक्तूबर के शुरू में
एक चम्मच में गिरते हुए
नमक ने सोचा
चलो अब सब ठीक हो जाएगा"[4]

हर बार स्त्री में एक प्रतीक्षा जागती है कि चलो अब सब ठीक हो जाएगा। सभी के जीवन में स्वाद भराने की शक्ति स्त्री में है और वह अपने आपसे यह पूछती भी है कि मैं क्यूँ हूँ नमक। कवि ने इस कविता को सिर्फ नमक के स्वाद तक ही सीमित कर दिया है। परिवार की हर छोटी बड़ी घटना के लिए स्त्री को दोषी मानना, जिम्मेदार ठहराना पितृसत्तात्मक समाज का कठोर सत्य है। कवि लिखते हैं कि

"पुरुष जो कि सबसे अधिक पुपया
धीरे से बोला
दाल फीकी है
फीकी है?
स्त्री ने आश्चर्य से पूछा
हा फीकी है
मैं कहता हूँ दाल फीकी है
पुरुष ने लगभग चीखते हुए कहा"[5]

यहाँ पुरुष के चिल्लाने पर वो चुप होती है।स्त्री की चुप्पी ही उसे स्वयं अपराध बोध से भर देतीहै। समाज यह भूल जाता है कि स्त्री का अपना अस्तित्व है। अपनी पहचान है। यहाँ अस्मिता से तात्पर्य है, स्त्री के स्वाभिमान की लड़ाई और स्वत्व का बोध।'अस्मि' अर्थात्'मैं हूँ'।स्त्री को बार - बार इस समाज में अपने होने का एहसास कराना पड़ता है। कविता में चित्रित स्त्री की दशा पर यदि ध्यान दिया जाए तो हमें सिमोन द बोउवार की पंक्तियाँ याद आती हैं जिसमें वह कहती है कि मात्र वर्ग संघर्ष के द्वारा स्त्री मुक्ति के महान लक्ष्य को हासिल नहीं किया जा सकता। चाहे साम्यवादी हो, मार्क्सवादी हो,

माओवादी हो या ट्रास्कवादी, औरत हर जगह, हर खेमे में अधीनस्थ कीस्थिति में है, सबसे निचले पायदानों पर खड़ी है।

केदारनाथ सिंह की एक और कविता है 'घुलते हुए गलते हुए' जिसमें स्त्री का सर्वस्व बचाकर रखने का भाव व्यक्त किया गया है।

"सहसा बौछारों की ओट में
दिख जाती है एक स्त्री
उपले बटोरती हुई
स्त्री को
बौछारों में
धीरे धीरे घुलते हुए
गलते हुए देखता हूं मैं"[6]

कवि यहाँ कामकाजी स्त्री की बात करते हैं। उसके जीवन में व्याप्त अभाव का चित्रण करते हैं। स्त्री अपने जीवन में कुछ भी खोना नहीं चाहती। स्त्री का घुलना और गलना स्वयं के अस्तित्व को व्यक्त करता है।

केदारनाथ सिंह की कविताओं में समय का सच दिखाई देता है। सामाजिक यथार्थ को समाज के सामने पेश करना साहित्य का दायित्व है। वैश्वीकृत समाज में भी नारी असुरक्षित है, यह कहना बहुत लज्जित कार्य है। केदारनाथ सिंह की कविताओं में चित्रित नारी इसका उदाहरण है। अपनी कविताओं के सहारे कवि समाज के समक्ष यह याद दिलाना चाहते हैं कि स्त्री सहानुभूति का विषय नहीं है। ■

सन्दर्भ सूची

1 पचास कविताएँ : नई सदी केलिए चयन, केदारनाथ सिंह-सं. गोविंद प्रसाद, बाणी प्रकाशन- २०१२ पृ.सं-101

2 पचास कविताएँ : नई सदी केलिए चयन, केदारनाथ सिंह-सं. गोविंद प्रसाद, बाणी प्रकाशन- २०१२ पृ.सं-101

3 स्त्री उपेक्षिता : सिमोन द बॉउवार (अनु), प्रभा खेतान, हिन्द पॉकेट बुक्स/नई दिल्ली, संस्करण 1998 पृ.सं 98

4 पचास कविताएँ : नई सदी केलिए चयन, केदारनाथ सिंह-सं. गोविंद प्रसाद, वाणी प्रकाशन- २०१२ पृ.सं-८४

5 पचास कविताएँ : नई सदी केलिए चयन, केदारनाथ सिंह-सं. गोविंद प्रसाद, वाणी प्रकाशन- २०१२ पृ.सं-८४

6 रूबी उपेक्षिता : सिमोन द बॉउवार (अनु) ,प्रभा खेतान ,हिन्द पॉकेट बुक्स/नई दिल्ली ,संस्करण १९९८ पृ.सं.६५

7 प्रतिनिधि काविताएँ केदारनाथ सिंह , राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८५, पृ.सं. ६५

बाज़ारू संस्कृति और समकालीन हिंदी कविता

जोस्ना जोस
शोधार्थी, यूनिवर्सिटी कॉलेज,तिरुवनंतपुरम
शोध निदेशक:
डॉ.बी.अशोक, अध्यक्ष, हिंदी विभाग, यूनिवर्सिटी कॉलेज,तिरुवनंतपुरम

वैश्वीकरण के कोख से जन्मे उपभोक्तावादी संस्कृति ने बाज़ारीकरण की प्रक्रिया को स्थिरता प्रदान करने में अहम भूमिका निभाई है। बाज़ार पहले भी हमारे बीच मौजूद थे। मगर उसके प्रयोजन विनिमय हेतु सोद्देश्य थे। पर आज बाजार एक नया चेहरा धारण कर लिया है । वह अब केवल विनिमय का माध्यम नहीं रह गया है। आज वह समाज, मीडिया और धर्म जैसे अनगिनत क्षेत्रों पर कब्जा करते हुए तीव्र गति से परिवर्तन के नए नमूने पेश कर रहे हैं। आज मनुष्य के प्रत्येक कर्म में बाज़ार परछाई की तरह व्याप्त है। हम अपनी ज़रूरत के अनुसार नहीं बल्कि बाज़ार और विज्ञापन द्वारा ललचाया जाने पर खरीदारी करते हैं। इक्कीसवीं सदी का साहित्य बाज़ार के इस बढ़ते कदम से वाकिफ है। इसलिए सचेत रचनाकार अपनी रचनाओं के माध्यम से बाजार रूपी दैत्य से मुकाबला करने के लिए तूलिका लेकर तैयार है। अन्य विधाओं की तरह हिंदी कविता में भी बाज़ार के इस घुसपैठ का आहट देख सकते हैं ।

वैश्वीकरण और बाजार के अंदर संबंधों को इस प्रकार समझा जा सकता है कि वैश्वीकरण का लक्ष्य संसार की अंतिम

सीमा तक पहुंचना है तो दूसरी तरफ बाज़ार मानव जीवन के पारंपरिक अक्स को मिटाकर नए उपभोक्ता वर्ग को जन्म देने में विश्वास रखता है। आज के तकनीकी युग में दृश्य माध्यमों ने लोगों के सामने बाज़ार की दुनिया को खोल कर रखती है। दुनिया की कोई भी चीज़ अब उसके सामने उपलब्ध है।न चाहते हुए भी बाज़ारी मायाजाल में लोगा फस जाता है। एक नई तरीके की संस्कृति यहां उपजी है जिसे हम बाजारू संस्कृति कह सकते हैं। इसे उपभोक्तावादी संस्कृति भी कहना गलत नहीं होगा। इस संस्कृति के केंद्र में है बाजार। आम आदमी यहाँ कठपुतली है। भूमंडलीकरण से जन्मी इस अपसंस्कृति के पीछे अमेरिका जैसी राष्ट्रों की सोची समझी साज़िश है। विदेशी कंपनियों को प्रवेश दिए जाने के बाद बाजार पर इन का ही वर्चस्व चल चल रहा है। वह नित्य नए तरीकों से आम आदमी पर भौतिक साधनों को खरीदने के लिए दबाव बना रहा है। इस बात को व्यक्त करते हुए चंद्रकांत देवताले जी अपनी कविता 'बुद्ध के देश में बुश' नामक कविता में लिखा है-

"अपने खतरनाक इरादों से

दुनिया को तबाह करने वाला सौदागर

पता नहीं कौन सा मुखौटा लगाकर

प्रवेश करेगा बुद्ध के जेतवन वाले देश में"(1)

आज पूरी दुनियासंचार माध्यमों की मुट्ठी में है। बाजार ही इसका नियंता है। विदेशी कंपनियां अपने माल की बिक्री के लिए विज्ञापनों का सहारा लेती है। केवल टीवी या अन्य माध्यमों में नहीं बल्कि अखबार जैसे प्रिंट माध्यमों में भी विज्ञापनों की ढ़ेर लगा हुआ है। आज नव माध्यमों का दौर है। इसमें कई तरीके के विज्ञापन लोगों के मन में आकर्षण पैदा कर रहे हैं। वह अपने हैसियत को भूल जाता है। आम आदमी विलासिता और भोग में खुद को झोंकने के लिए विवश है क्योंकि विज्ञापन उसकी सोचने की क्षमता को नष्ट करता है और उसे बाजार के अनुरूप चीज खरीदने के लिए विवश कर रहा है। एक से बढ़कर एक चीज़ बाज़ार में उपलब्ध है। विज्ञापन की शक्ति को लीलाधर जगूड़ी इस प्रकार अभिव्यन्कि दी है कि

"मैल कितना उत्पादक हो सकता है यह

साबुनों और /

डिटर्जेंट पाउडरों के बीच हो रहे युद्ध से

जाना जा सकता है /

जिन्हें सौन्दर्य के मैनेजर अधिक सुंदर

दामों पर बेचने की होड़ में है ।"(2)

विज्ञापन ब्रांड आदि से आकर्षित होकर व्यक्ति बाजार में पहुंच जाते हैं। वह ऐसी दुनिया में आ धमकता है जिसमें चारों तरफ वस्तुएँ ही वस्तुएँ हैं। अपने इर्द -गिर्द सारी चीजों को देखकर वह दिग्भ्रमित होता है। अपनी प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए और लोगों को दिखाने के लिए वह अनावश्यक चीज़ों को भी खरीद डालता है। वह इस असलियत से बेखबर है कि बाज़ार केवल हमारी जरूरतों को पूरा नहीं कर रहे हैं बल्कि हमारे अंदर नए जरूरतों को पैदा भी कर रहे हैं। लोग जरूरतों से ज्यादा गौर जरूरतों को वह महत्व देता है। बाज़ार में पहुँचे कवि भी इसी पशोपेश में है-

"इस सदी के उत्तर प्रायोजित बाजार के /
कुतूहल में अकस्मात जा पहुंचा
चीज़ों में अफरा-तफरी का रोमांच था /
वस्तुएँ शोर के रेलमपेल में न्यस्त थी और पुरुष स्त्री की जगह/
स्त्री के अनुकृति से रोमांस में मुब्तला थे"(3)

अपने औकात से बाहर भी चीजें खरीद कर आदमी अपने को कर्ज में डूबा रहे हैं। वह व्यक्ति की हैसियत से नीचे गिर कर मात्र उपभोक्ता बन कर रह गया है। बाजार के इस बढ़ते प्रभाव के चलते साधारण व्यक्ति भी जिसे दो वक्त की रोटी मयस्कर हो रही है वह भी अपने आपको बाजार में धनी मानने को विवश हो उठता है। वह भी अमीरों की तरह शान और शौकत के लिए चीजें खरीदने में मजबूर हो रहे हैं। घर में सामान रखने की जगह नहीं है फिर भी उसे सबकुछ खरीदना है। बाज़ार की सम्मोहन में वह घेरा हुआ है। कुमार अंबुज इस स्थिति का उद्घाटन करके कहता है –

"जहां से भी मैं गुजरा/नए पुराने सामानों की कीमत पूछता हुआ /
सिर हिलाता रहा एक धनी आदमी की नकल में /
मैं कई सालों बाद गया था बाजार /
मुझे वहां पता चला कि मेरे ना जाने के बावजूद /
कीमत बढ़ रही है इस अनुपाद में और कहीं कुछ कमी नहीं है"(4)

आज बाज़ार का हमारे ऊपर प्रभुत्व स्थापित हो रहा है। नव उपनिवेशवाद यही तो है। बाज़ार के ज़रिए हमें फिर से गुलाम बनाने की साजिश पर्दे के पीछे से चल रही है। हम सोचते हैं कि हम स्वतंत्र हैं। वास्तव में

देखा जाए तो हम बाज़ार का गुलाम ही है। हम सब जाने अनजाने में बाजार में मिले हुए हैं। बाजार में मूल्य और भावनाएं धूल के समान है। वहां सिर्फ फायदे और लाभ जैसे शब्दावली ही चलती है। मनुषयता और इंसानियत की कोई मूल्य नहीं रह गया है। भूमंडलीकरण के कारण ही मनुष्य के मन में संवेदनाएँ ढह रही है। हमारे चरित्र बदल रहे हैं। कवियत्री इसके प्रति चिंतित हैं। वह टूटते बिखरते सारे मूल्यों की प्रतिस्तावना में लगे हुए हैं –

" अब जबकि / दुनिया एक गाँव बनने जा रही है /

और एक विश्व बाज़ार है जिसमें / हम सब बिला जाएँगे /

कितना जोखिम भरा शब्द हो गया है भरोसा /

और उससे भी बड़ा जोखिम है उसे बचाना "(5)

बाज़ार ने हमारे समय और परिवेश को बदलकर रख दिया है। पारिवारिक और सामाजिक संबंधों में दरार आ गई है। आज व्यक्ति अपने लिए चिंतित है। चीज़ों की ढेर में डूब जाने पर वह बाहरी दुनिया से वास्ता तक नहीं रखता। सब कुछ दरवाज़े पर तो पहुंच जाता है। लोगों से मिलना-जुलना कम हो गया है। अजनबीपन बढ़ गया है। बाज़ारवादी संस्कृति ने हमसे अपनी बहुमूल्य संवेदनाएँ छीन ली है। हम देखते हैं कि बाज़ारवाद के इस दौर में संबंधों की संरचना में कई परिवर्तन आये हुए हैं। कोई भी बाज़ार के गिरफ़्त से मुक्त नहीं है। नये समय का नया मूल्य पुराने मूल्यकी जगह ले रहा है। हमारा पहचान हमसे छीना जा रहा है। युवा पीढ़ी को अदम्य लालसाओं में फंसाकर उसे अर्थ का दीवाना बना दिया है। ऐसे में रिशते नाते, अपनों से प्यार, लगाव सबकुछ अर्थहीन होते जा रहे हैं। इस मुर्दा समय को चित्रित करने के लिए रमण कुमार सिंह की ये पंक्तियाँ ही काफी हैं –

" यह बड़ा ही लुटेरा ही समय है मित्रों /

छीन लिया है इसने /

माँ - बहनों के माथे का सिंदूर /

बच्चों के खिलौने और मासूमियत /

दादी की लोरियाँ और किस्से / बुजुर्गों के सहारे की लाठी/

युवकों से जिजिविषा की आग/ परिचितों से पहचान /

उत्सवों का उल्लास/ स्नेहीजनों का हास - परिहास/ छा गई है मुर्दा खामोशी"(6)

आज राजनीति बाज़ार के हाथों चलायी जा रही है। पहले राजनीति राज करने की नीति थी तो आज वह

धनपतियों और करोड़पतियों की इशारे पर दुम हिलाने वाला रह गया है। वैश्वीकरण ने एक और विकास के लिए सारी राहें खोल ली है फिर भी सामाजिक व्यवस्था में विघटन ही विघटन दिखाई दे रहा है। आदमी टुकटों में जीने को विवश है। जब भी वह विद्रोह कर उठता है तो उसे चंद परियोजनाएँ और आश्वासन देकर चुप करा दिया जाता है। असली समस्याओं पर पर्दा डालकर उन्हें पदभ्रष्ट करा दिये जाते हैं। क्योंकि राजनीतिज्ञ मुनाफा कमाने की दौड़ में है। विकास के नाम पर कुछ भी किया जा रहा है-

" अन्याय अत्याचार अनाचार के प्रति/
प्रतिरोध करने की शक्ति /
समाप्त हो गयी है/ हमारी सारी
संवेदनाएं /
रोज़ी -रोटी की तलाश में भटकते -
भटकते/लुप्त हो गयी हैं /
जब भी कोशिश करते हैं गुर्राने की /
फेंक दिये जाते हैं /
गोश्त के कुछ टुकड़े और हम / हिलाने
लगते है दुम"(7)

बाज़ारीकरण ने धर्म को भी नहीं छोड़ा है। धर्म भी उसकी चपेट में आ गयी है। धर्म के नाम पर वह मानव जाति को अंधविशवास के बाज़ार में बेच रहा है। कवि मदन कश्यप वैश्विकरण को जाति-धर्म का जहर बेचने वाला मदारी बताते है। बाज़ारू सभ्यता ने समाज के हर तबके से संबंध रखने वाले व्यक्तियों को भी अपने गिरफ्त में इस प्रकार लिया है कि वह धर्म, संप्रदाय के बारे में सोचने और कार्य करने के लिए बाध्य हो रहा है। कवि का मानना है कि यूरोप का बाज़ार सांप्रदायिक उन्माद को नये रूप में विक्रय कर रहे हैं –

" क्या सचमुच यह मुल्क उन मदारियों
का है /
जो बजा रहे हैं भूमण्डलीकण की
डुगडुगी /
और उन सपेरों का / जो बेच रहे हैं
जाति-धर्म का जहर /
यूरोप के विचार बाजार में"(8)

विश्व पर राज करनेवाले अमेरिका जैसे विकसित राष्ट्र धार्मिक कट्टरता और सांप्रदायिकता को बढ़ावा देता है। इन सबसे बचने की आवश्यकता पर समकालीन कवि गण बल देते हैं।

बाज़ारवादी संस्कृति ने पिछले कुछ दशकों से प्रत्येक क्षेत्र को प्रभावित किया है। संस्कृति भी इस दृष्टि से अधूता नहीं है। हमारी संस्कृति हमारा धरोहर है। संस्कृति किसी देश या समाज के अंतरंग जीवन का दस्तावेज़ है। भारतीय संस्कृति सत्य, अहिंसा, प्रेम , उदारता

सब के लिए जाने जाते रहे हैं। पर आज की संस्कृति बाज़ार की वर्चस्व की संस्कृति है जहाँ मानवीय मूल्य गिर रहे हैं और कृत्रिमता बढ़ रही है। यह पाश्चात्य संस्कृति ही है जिसमें मूल्य का ह्रास हो रहा है। हमारे सांस्कृतिक धरोहर में होती इस टूटन को कवि इस प्रकार विश्लेषित करते हैं कि –

"एक हाथ में पेप्सी कोला/
दूजे में कंडोम /
तीजे में रमपुरिया चाकू /
चौथे में हरिओम /
कितना ललित ललाम यार है /
भारत घोड़े पर सवार है "(9)

भौतिक संस्कृति में हम अपनी वजूत खो रहे हैं। भारतीय संस्कृति को यह समूल नष्ट करने पर उतार है। सब कुछ बिकाऊ हो गया है। इससे बचना समय की माँग है।

विकास की विसंगतियों पर आज कल जोरों पर बातचीत चल रही है। प्रत्येक परियोजनाएँ तकनीकी पर आधारित है। इससे व्यक्ति का जीवन आसान तो बन जाती है मगर विडंबना यह है कि व्यक्ति आत्मकेंद्रित हो गया है और अपनी स्वार्थता की पूर्ती ही उसका लक्ष्य बन गया है। आधुनिक मानव ने तकनीकी से सब कुछ निर्मित किया है मगर वह यह नहीं जानता कि वह नाश की परवान चढ़ रही है। प्रकृति भी विनाश के कगार पर है।

" इधर अब फ्लैट हैं /
और मोबाइल फोन / डी टी एच छतरियाँ , केबल और इंटरनेट का महा संजाल /
और घातक बहोत आस- पास अदृश्य और फैलता प्रदूषण इस कदर / कि साँस लेना मुहाल"(10)

वैश्वीकरण के कारण नारी की स्थिति में जहाँ कुछ सुधार आयी तो दूसरी तरफ वह उसे एक पण्य वस्तु के रूप में भी बदल रही है। मीडिया ने उसे प्रोडक्ट बेचने का माध्यम बना रही है। वह बाज़ार के इशारो पर नाच रही है। यह त्रासदी मात्र है कि वह उपभोग की वस्तु बन गयी है। लकिन वह इस सत्य से बेखबर है। इस संदर्भ में प्रभा खेतान का मानना सटीक बैठता है कि "वर्तमान दौर में बाज़ार की चकाचौंध ने स्त्री को इतना लुभाया है कि, उपभोक्ता की स्थिति में स्वयं को स्त्री स्वंत्रत समझ रही है जबकि वास्तविकता बिलकुल इस के विपरित है। स्त्री उपभोक्ता बाज़ार को निर्देष नहीं दे रही बल्कि यह तो बाज़ार है जो स्त्री को मनचाहा सामान परोस रहा है और जिसे भोगने को स्त्री बाध्य है। मजे की बात तो यह है कि अपनी इस बाध्यकारी प्रवृत्ति को भी

स्त्री समझ नहीं पा रही, बल्कि बहुतेरे स्त्रियों का कहना है - हम तो सबल है, आर्थिक रूप से समर्थ हैं, मनचाहा खाती पीती हैं और पहनती हैं। आज तो बाज़ार से हमारी सीधी बातचीत हैं"(11)।

इक्कीसवीं सदी की स्त्री बाज़ार के हाथों से भी शोषित है। वह मुनाफा कमाने का माध्यम बन गया है। उसके दोहन का चित्रण कवयित्री इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि –

"शायद बहुत पहले तय कर चुका था बाज़ार /
इन लड़कियों की नियति /
बना चुका था खुद को एक विशाल नाच घर /
जिसमें नाचना था इनको जीवन पर
बेचने थे उसके उत्पाद उन्हीं में तब्दील हो कर"(12)

भूमंडलीकरण और उससे उपजी बाज़ारवाद समय की सबसे बड़ी समस्या बनकर उभरी है। वह मनुष्य को केवल और केवल भोक्ता की भूमिका में सीमित कर उसके अस्तित्व को चुनौती दे रहा है। उसके भावनाओं के साथ खिलवाड़ करते हुए उसे अधिकाधिक चीज़ें खरीदने के लिए बाध्य कर रहे हैं। हिन्दी के समकालीन कवि समय के इस ज्वलंत समस्या से मुठभेड़ करती नज़र आ रही है। बाज़ार के इस चेहरे को बेनकाब कर उसका पर्दाफाश करना उनका लक्ष्य है। वे हमें सचेत करते हैं कि बाज़ार मनुष्य के लिए हैं, मनुष बाज़ार के लिए नहीं। बाज़ार का सही उपयोग और उपभोग पर ध्यान रखने को रचनाकार चेतावनी दे रहे हैं। उनके प्रतिरोध का तेवर इस प्रकार हैं कि –

"वे बनाएंगे महंगे सामान / हम नहीं खरीदेंगे /
वे तय करेंगे सदी का रास्ता / हम नहीं चलेंगे /
मोहक विज्ञापनों का असर नहीं होगा हम पर /
एक मुट्ठी अन्न / रोज़ कम खाएंगे और बचाएंगे बीज /
दुनिया में / विरोध के सारे हाथियार चुक जाएंगे /
फिर भी बचा रहेगा हमारा असहयोग /
हमारी आत्मनिर्भरता"(13)

समकालीन कवियों ने बाजारीकरण के इस चुनौती भरे समय में मनुष्य को जागरूक करने का प्रयास अपने बल पर कर रहा है। वह हक़ीक़त का खुलासा करते हुए हमारा आँख खोलना चाहता है। वह कहता है कि अतिवादी भोग निकट भविष्य में इंसान को सांप की तरह निगलेगा। इससे बचने हेतु हमारा सकारात्मक पहल यह होना चाहिए कि बाज़ार रूपी आंधी को हम समझे।

जीवन में उसके प्रवेश के लिए सीमाएँ निर्धारित करें। भविष्य में यह तय है कि भारत विश्व का सबसे बड़ा बाजार बन जाएगा। आज उस मंजिल की ओर तीव्र गति से वह संचालित हो रहा है। इस संदर्भ में प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व बनता है कि बाज़ार के आतंक को जिंदगी में हावी होने से रोक दे।

उपर्युक्त परिस्थिति को गंभीरता से लेकर समकालीन कवि भावी संकट के संकेत देकर हमें विचार मंथन को प्रवृत्त करती है। क्योंकि कवि ही परदे के पीछे छुपी खतरे को दूर दृष्टि से भाप सकते हैं। उसका कर्तव्य भी है कि वह जगाने का काम करें- जैसे कवि ने कह रखा है- ...प्रतिबद्ध हूँ, आबद्ध हूँ, संबद्ध हूँ। ■

संदर्भ ग्रंथ सूची

1 . पत्थर फेंक रहा हूँ,चंद्रकांत देवताले, पृ 150

2 .ईश्वर की अध्यक्षता में,लीलाधर जगूड़ी,पृ 21

3 .कस्बे की दुकान में मनमोहन जी, लीलाधर मंडलोई, पृ 54

4. क्रूरता, कुमार अंबुज, पृ 28

5.सफर के लिएरसद, निर्मला गर्ग, पृ 60

6 . बाघ दुहने का कौशल, रमण कुमार सिंह, पृ 31-32

7.तलाश, बृजेंद्र त्रिपाठी, पृ 16

8 .नीम रोशनी में ,मदन , पृ 94

9.दुस्वप्न भी आते हैं, अष्टभुजा , पृ 77-78

10. प्रगतिशील वसुधा-78, जुलाई - सितंबर 2008, पृ 144

11.बाज़ार के बीच बाजार के खिलाफ,प्रभा खेतान, पृ 218

12.नींद थी और रात थी,सविता सिंह,फ्लैप से

13.कटौती, निलय उपाध्याय,34

UNIVERSITY OF KERALA

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा

हिंदी विभाग
केरल विश्वविद्यालय
कार्यवट्टम, तिरुवनंतपुरम
2022